

त्रिपिठ-प्रकाश



विमला ठकार

त्रिविध-प्रकाश

विमला ठकार

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
अहमदाबाद

त्रिविध-प्रकाश

प्रथम खण्ड

(१९७३ में गौहाटी में हुए दो प्रवचनमालायें)

१. सर्वोदय-विचार और आन्दोलन (सात प्रवचन)
२. मार्क्स-माओ-गांधी और उन के बाद ? (तीन प्रवचन)

द्वितीय खण्ड

१९८०-८१ में प्रकाशित लेख

१. "अग्धरे में त्रिविध प्रकाश : गांधी-विनोबा-जयप्रकाश"
२. नया मनुष्य, नया गाँव, नया समाज
३. मनुष्य को बचायें ! ४. आओ मनुष्य बनो !

© विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

कृष्णकुटी, 5 धियाँसाँफिकल हा. सोसाइटी नवरंगपुरा, अहमदाबाद-9

प्रथम प्रकाशन-1985

मूल्य-रु. 20/-

₹ 20 = 00

मुद्रक : पारिजात प्रिण्टरी, राणिप, २८८/१ अहमदाबाद-5

निवेदन

सन् १९७३ मार्च में असम (गोहाटी) में दि. ८ से १२ तक सर्वोदय-शिविर के अन्तर्गत एव दि. १६ से १८ तक स्वतन्त्र रूप से मित्रों के अनुरोध पर राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति-भवन में श्रद्धेण "दीदी" के प्रवचन हुए थे। इनमें क्रमशः 'सर्वोदय विचार और आन्दोलन,' 'गांधीयुग और विनोबायुग' एवं 'सर्वोदय विचार व आन्दोलन का भविष्य'—इन विषयों पर सात तथा 'मार्क्स-माओ-गांधी और उनके बाद क्या?' इस विषय पर तीन प्रवचनों में अतीव मार्मिक विश्लेषण एवं चिन्तन व्यक्त हुआ। इनमें से अन्तिम तीन का तो गुजराती अनुवाद शीघ्र ही (१९७४ में) प्रकाशित हो गया, किन्तु मूल हिन्दी प्रवचन अब तक अप्रकाशित रहे थे। अब इन समस्त प्रवचनों को एक साथ संगृहीत करके प्रकाशन हो पा रहा है इसका आनन्द है। इन प्रवचनों का मूल संकलन डॉ. प्रेमलता शर्मा ने किया था, जो उस समय श्र० दीदी के साथ असम में रही थीं।

इन प्रवचनों के विषय से सम्बन्धित एक लेख 'अंधेरे में त्रिविध प्रकाश—गांधी विनोबा जयप्रकाश' "दीदी" ने १९८० में लोकसत्सङ्गघात्रा के दौरान लिखकर लघु-पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया था, फिर १९८१ में उसी सिलसिले में और भी कुछ लघुलेख लिखे गये थे। विषय की समग्रता की दृष्टि से वे लेख भी इस संकलन में समाविष्ट कर लिये गये हैं।

हमेशा की तरह इस प्रकाशन में भी दृष्टि-प्रमाद के कारण रही हुई त्रुटियों तथा मुद्रारोमस के अट्टहास में क्षटे हुए अक्षरों-मात्राओं आदि के कारण पाठकों का जो रसभङ्ग होगा—उसके लिये सूरिसः क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

सबके हृदयविहारी प्रभु समय-सषय पर युग-सन्दर्भानुकूल वाणी और शैली से, मनुष्य के उपजाये अँधेरे को मिटाते हुए प्रदीपों में स्वयं प्रकाशित हुआ करते हैं, और तमसू बढ़ने पर अँधी आँसों को झोलते हुए विश्वास प्रकाश बिखाया भी करते हैं। उनकी वह कृपा इस 'त्रिविध प्रकाश' से भारत के आसमन्त क्षितिज को एवं भारतीयों के हृदय को आलोकित-आलोकित कर दे, आत्मविस्मृति-जन्य भटकना मिटाकर अपनी राह पर चलने की प्रेरणा प्राणों में भर दे—यही प्रार्थना है।

श्री गणेश—चतुर्थी

१८/९/८५

अमिता

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

: १ :

सर्वोदय विचार और आन्दोलन

विषय	पृष्ठ
१. प्रथम प्रवचन	१-६
२. द्वितीय "	७-१३
३. तृतीय "	१४-१९
४. चतुर्थ "	२०-२५
५. पञ्चम "	२६-३१
६. षष्ठ "	३२-३९
७. सप्तम "	४०-४२

: २ :

मार्क्स, माजा, गांधी : उनके बाद क्या ?

१. प्रथम प्रवचन	४३-४९
२. द्वितीय प्रवचन	५०-६०
३. तृतीय प्रवचन	६१-६८

द्वितीय खण्ड

१ अन्धेरे में त्रिविध प्रकाश : गांधी, विनोबा, जयप्रकाश	६९-७५
२ नया मनुष्य, नया गाँव, नया समाज	७६-८०
३ मनुष्य को बचायें !	८१-८२
४ आओ ! मनुष्य बनो !	८३-८४

प्रथम खण्ड

१

सर्वोदय-विचार और आन्दोलन

प्रथम प्रवचन

दि. ८-३-७३

प्रातः १० बजे

आज से १२ मार्च तक आप लोगों से 'सर्वोदय विचार और आन्दोलन' 'गांधी-युग और विनोबा-युग' एवं 'सर्वोदय विचार और आन्दोलन का भविष्य क्या है'—इस विषय पर बातचीत होगी। विषय गंभीर है, और जो बातें कहनेवाली हूँ, वे भी गंभीर हैं। इसलिये उन बातों को आप बहुत धान्ति और गंभीरता से सुनेंगे ऐसा अनुरोध है। जिन लोगों को मेरा परिचय नहीं है, उनके लिये कह दूँ कि सर्वोदय विचार और आन्दोलन की एक मित्र हूँ।

इस आन्दोलन से मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध १९५३ से ६२ तक रहा। आज भी आन्दोलन का अध्ययन, चिन्तन चल रहा है। जो समीक्षा, जो मीमांसा यहाँ होगी उसमें कहो—कहाँ लगेगा कि आन्दोलन की टीका-टिप्पणी हो रही है, लेकिन वह सुनते समय एक बात ध्यान में रखें कि निन्दा करने के लिये या आन्दोलन तुच्छ बतलाने के लिये नहीं, बल्कि कार्यकर्ताओं के आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण के लिये आगे पथ प्रशान्त बनाने के लिये यह कठोर और निर्भय कार्य करना पड़ता है, क्योंकि आन्दोलन और सारा देश एक ऐसी परिस्थिति से गुजर रहा है कि राजनीति, अर्थनीति, शिक्षण आदि से सम्बन्धित संस्थाओं में हम आत्मनिरीक्षण नहीं करेंगे, जहाँ घटाना, बढ़ाना, सुधारना ही गहीं, आमूलाग्र परिवर्तन करना है, वहाँ वैसा नहीं करेंगे तो देश की जनता का कल्याण नहीं।

सर्वोदय विचार को समझने के लिये और गांधीजी के व्यक्तित्व को, जीवन को, समझने के लिये भारत का इतिहास देखना अनिवार्य है। १८ वीं, १९ वीं शताब्दी और २० वीं शताब्दी के पिछले ७० वर्ष—इस प्रकार २७० या ३०० वर्षों का इतिहास देखेंगे तो गांधीजी के आगे-पीछे के संदर्भों का पता चलना उसके बिना उसके जीवन—कार्य को समझना संभव नहीं। सर्वोदय का काम करने में गंभीर दायित्व है।

त्रि. प्र. १

१७५७ से १८५७ की बीच १०० वर्षों में ब्रिटिश सत्ता हिन्दुस्तान के बड़े हिस्से को काबू में कर चुकी थी। ६५० के करीब देशी राज्य तो थे, और उन में छोटे-बड़े राजाओं का शासन भी चलता था, लेकिन ध्वजा तो अंग्रेज सरकार की सर्वत्र लहरा चुकी थी। वह ध्वजा लहरा सकी, इसका कारण यह नहीं था कि अंग्रेजों के पास अच्छी बन्दूकें थीं या अच्छी सेना थी। ब्रिटिश राज्य तो इसलिये स्थिर हो सका कि भारत के लोग आपस में लड़ते-झगड़ते थे।

एक ओर तो हैदराबाद, भोपाल, जूनागढ़, रामपुर जैसे बड़े-छोटे मुस्लिम राज्य थे, लेकिन वे भी आपस में एक नहीं थे। ईप्यार, द्वेष, उनमें भी चलता था। दूसरी ओर छोटे-बड़े अनेकों हिन्दू राज्य थे। उनमें भी मंसूर, बड़ौदा जैसे इने-गिने राज्यों को छोड़ कर कोई राज्य ऐसे नहीं थे जिन्हें प्रजा की चिन्ता हो, जो अपनी जिम्मेवारी समझते हों। बाकी सब राज्य आपस में लड़ते-झगड़ते थे। उन लोगों ने सोचा चलो अंग्रेजी सत्ता आई तो अच्छा ही हुआ, छोटे-बड़े सब राजा बराबर हो गये। अंग्रेज के दरबार में सब को बराबर सम्मान है, चलो अच्छी बात है।

इस देश में हिंदू-मुसलमान को एकता न सही, हिन्दू-हिन्दू भी यदि आपसी सहयोग से काम करते, अपने स्वार्थ को यदि देश के हित से बढ़ा न मानते तो अंग्रेजों की सत्ता कायम न हो पाती। १८५७ का विप्लव कुछ राजाओं, विचारकों योद्धाओं की कोशिश से हुआ। अंग्रेजी सत्ता को हटाने का वह प्रयास इतना करुण था कि एक स्थान पर बया हो रहा है, इसका दूसरे स्थान-वालों को पता नहीं, कहीं कोई संयोजन नहीं था। और इसीसे पूरी योजना बिखर कर असफल हो गई। नेतृत्व का निर्णय नहीं, सुनिश्चित योजना नहीं—इस प्रकार पूरा प्रयास एक करुण कहानी बन कर रह गया। जात-पात, धर्म के झगड़े, क्षुद्र स्वार्थों के टकराव, परस्पर अविश्वास, इन सबका बोलबाला था और ऐसी करुण परिस्थिति में से देश गुजर रहा था।

राममोहन राय, रानडे, तिलक इत्यादि के कार्य को हम समझ नहीं पायेंगे, यदि उस काल की परिस्थिति का हमें पता न हो। जब सेना के विप्लव से काम नहीं बना, तब देश के चिन्तक लोग प्रतिकार के दूसरे उपाय सोजने लगे। कुछ विचारकों को लगा कि शिक्षण से काम होगा। नई पीढ़ी सुशिक्षित होगी तो अंग्रेजी सत्ता को हटा सकेगी, ऐसा उन लोगों को लगा। कुछ लोगों ने सोचा कि धर्म-अध्यात्म का बल बढ़ाने से काम होगा। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, उनसे पहले ब्राह्मी समाज इन सबका इस ओर प्रयास था। उन्हें लगता था कि केवल शिक्षण से काम नहीं होगा। शिक्षण तो अंग्रेजी पद्धति से ही

होता था। लॉर्ड मेकाले ने सन् १०४२ में जो पद्धति बना दी थी, उसी के अनुसार समस्त शिक्षण चल रहा था। इसलिये कुछ लोगों को लगा कि धर्म और अध्यात्म का शिक्षण देना चाहिए। विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, तिलक आदि का इस दिशा में कार्य हुआ। १८७४ में मेडम ब्लेवेडसकी ने मद्रास के पास अडधार में धियोसौफी का सारे संसार का केन्द्रीय कार्यालय स्थापित किया, जिस में सब धर्मों के अध्ययन की व्यवस्था थी।

इस प्रकार १८७० से १९०० तक के ३० वर्षों में ज्ञानबल, तपोबल बढ़ाने की कोशिश चल रही थी, जनता में जागृति लाने का काम चल रहा था—'उत्सिष्टत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत'—इस मन्त्र की पुकार जनता में पहुँचाई जा रही थी।

कुछ लोगों को लगता था कि एक राष्ट्रीय मंच होना चाहिये, एक राष्ट्रीय सभा होनी चाहिये जहाँ से अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजों तक अपनी बात पहुँचाई जा सके। ऐसे लोगों के सम्मिलित प्रयास से इन्डियन नैशनल काँग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई। काँग्रेस की स्थापना में एक उदारमतवादी अंग्रेज ह्यूम की मूल प्रेरणा थी। इस प्रकार १८७० से १९०० तक के ३० वर्षों में देश में एक साथ शिक्षण, धर्म-अध्यात्म और राष्ट्रीय सभा या मंच का निर्माण—इन तीन धाराओं में काम होने लगा था।

उधर गांधीजीने १९०५ में दक्षिण अफ्रिका में अन्याय के प्रतिकार का, सत्य के लिये डटकर खड़े होने का प्रयोग शुरू किया। इसके लिये उन्हें लगा कि धर्म अध्यात्म का अधिष्ठान चाहिये। इस विषय पर उनका अध्ययन तो था नहीं। इसलिये उन्होंने ७०-७२ प्रश्न लिख कर भारत में भेजे और कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर कोई ज्ञानी योगी, कोई हिन्दू या जैन दे सके तो अच्छा होगा अन्यथा वे ईसाई धर्म स्वीकार कर लेंगे। श्रीमद् रामचन्द्र जो बहुत ज्ञानी सन्त थे और गुजरात में रायचन्द्रभाई के नाम से परिचित थे, उन्होंने उन प्रश्नों के उत्तर दिये थे। गांधीजी का निश्चय था कि अन्याय का प्रतिकार यदि यहाँ दक्षिण अफ्रिका में कर सका तो फिर हिन्दुस्तान जाऊँगा।

आत्मसिद्धिशास्त्र के प्रणेता श्रीमद् राजचन्द्र ने गांधीजी के प्रश्नों के उत्तर भेजे थे, उस से उनका संतोष—समाधान हुआ। विनोबा जितना अध्ययन गांधीजी का नहीं था। वे संसारी व्यवहार करने वाले व्यक्ति थे। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य इत्यादि बातों पर १९०६ में उन्होंने आचरण शुरू किया। खेती करना, आटा पीसना, कपड़े धोना इत्यादि काम जो फिनिक्स आश्रम में शुरू किये, वे सादी-प्रामोद्योग की तैयारी बन गये। गांधीजी के जीवन के संदर्भों

में सत्य का जब जो प्रत्यय आया, उसे वे जीते चले गये। कभी किसी के लिये वे रुके नहीं। यह जीवित व्यक्ति का लक्षण है, यह भक्त का लक्षण है। कल का क्या मरोसा? प्रभुर्कृपा से यदि सत्य के और रहस्य खुलेंगे, तो उन के अनुसार भी जियेंगे। लेकिन, उन की प्रतीक्षा में आज के प्रत्यय को जीना क्यों टालें ?

भारत के राजनैतिक जीवन के नेतृत्व की तैयारी, सर्वोदय विचार और आन्दोलन की तैयारी १९०६ से १९१२ तक गांधीजी की, दक्षिण अफ्रीका में ही हो गई थी। परिवार सहित फडोर तैयारी उन्होंने की थी। और तपः—पूत होकर वे १९१५ में भारत आए। तब तक ब्रह्मचर्य का आचरण और अपरिग्रह जैसे अन्य व्रतों का पालन वे कर चुके थे। शरीर—भ्रम का अभ्यास कर चुके थे। और अन्याय के प्रतिकार में खड़े हो चुके थे। बोजर युद्ध में पहले तो उन्होंने अंग्रेजों की मदद की, लेकिन जब देखा कि अंग्रेजों में ईमानदारी नहीं है, उनकी नीयत साफ नहीं है, तब उनके विरोध में डट कर खड़े हो गये।

गांधीजी जब भारत लौटे तो लोग उनकी शक्ति को समझ नहीं पाए। गांधीजी ने हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षेत्र में गोखले को अपना गुरु माना। गोखले सौम्य और मध्यम मार्ग पसन्द करने वाले थे। तिलक में तीक्ष्णता था और फिरोज साह मेहता जनता से बहुत दूर थे। गांधीजी ने ताड़ लिया था कि देश का काम उपदेशक—वर्ग से नहीं बनेगा। देश को तो जरूरत थी ऐसे कार्यकर्ता—वर्ग की, जो प्राणपण से देश की सेवा करेगा। सन्यासी देश—सेवीवर्ग की जरूरत गांधीजी ने समझ ली थी। सारे जीवन का अध्यात्मोत्करण जब तक नहीं होगा, तब तक इस देश का उद्धार नहीं हो सकेगा, इस बात को वे खूब समझ गए थे।

गोखले ने गांधीजी को सबसे पहले एक वर्ष तक देश के भ्रमण की सलाह दी। तदनुसार एक साल के भ्रमण के दौरान उन्होंने देश की परिस्थिति का मौन रहकर अभ्यास किया। १९१६ से १९२० तक के चार वर्षों में उन्होंने कांग्रेस के सामने कुछ मौलिक बातें रखीं।

पहली बात तो यह थी कि स्वतन्त्रता का आन्दोलन जब तक देहात में किसान तक नहीं पहुँचता, तब तक सच्ची स्वाधीनता नहीं आ सकती। भारतीय जीवनपद्धति और भारतीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने चर्खा, खादी का काम शुरू किया। अंग्रेज यहाँ से रुई ले जाते थे और कपड़ा लाकर यहाँ बेचते थे। कपास, रुई, ऊन, जो कि किसान को सुलभ थे,

उन्हीं से शुरुआत की। खादों के साथ-साथ अन्य प्रायोगिक भी जोड़ दिये। ओ-पुरुष-समता, असृश्यता-निवारण जैसे कार्य भी साथ जोड़ कर एक व्यापक रचनात्मक कार्यक्रम उन्होंने बनाया।

दूसरी बात यह थी कि अंग्रेज से हम लड़ेंगे, लेकिन यह शान्ति की लड़ाई होगी। कांग्रेस जो भाँगें अंग्रेज-सरकार के सामने रख रही है, उन भाँगों से कुछ नहीं होगा। हमें शान्तिपूर्ण असहयोग करना होगा। इस शांतिपूर्ण युद्ध के लिये, अहिंसात्मक असहयोग के लिये किसान को जगाना होगा। किसान की जागृति से ही शक्ति आएगी।

बापू का सर्वोदय-विचार देश की परिस्थिति के अध्ययन में से आया। जो आन्दोलन इस देश के किसान को जगा नहीं पाएगा, जातीयता के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठ कर जो एकता नहीं ला पाएगा, वह शान्ति नहीं ला सकेगा। तब के सारे आन्दोलन मध्यमवर्ग में सीमित थे। और आज फिर वही हो रहा है।

इन सब बातों के साथ एक अजीब बात गांधीजीने और जोड़ दी, वह थी प्रार्थना। तब तक किसी राजनैतिक नेता ने वैसा किया नहीं था। गांधीजी की श्रद्धा थी कि जन-जागरण में तब तक प्राण नहीं आएगा तब तक आत्म-बल, अध्यात्म-बल नहीं बढ़ेगा।

इस प्रकार गांधीजी एक क्रान्तिकारी के रूप में हिन्दुस्तान के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में प्रवेश कर गये। १९१६ से १९२० तक तो अधिकांश लोगों ने उनकी शक्ति को पहचाना ही नहीं। उनमें न कोई रोब-दाब था, न कोई रौनक दीखती थी। नेतृत्व का रास्ता छोड़ कर उन्होंने सेवा का रास्ता अपनाया था, उपदेश छोड़कर शिक्षण में जुट गए थे, शहर छोड़कर गाँव को अपने कार्य का केन्द्र बनाया था। इसलिये लोगों को आश्चर्य भी होता, उनकी सफलता के प्रति आश्चर्य भी होती।

लेकिन १९२२ तक सब लोग मान गये कि यह व्यक्ति फौलाद जैसा मजबूत है, इसके भीतर शान्ति की आग है। उनका सर्वोदय-विचार यानी एक तपस्वी की मानव-निष्ठा थी। वे जानते थे कि जब तक आत्मनिष्ठा के अधिष्ठान को व्यक्ति के जीवन में नहीं पकड़ेंगे, जब तक ईश्वरनिष्ठा को नहीं पकड़ेंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं हो सकता।

गांधीजी के पंच-प्राणों की बात करें तो उनका पहला प्राण था सत्य। वे कहते थे सत्य ही परमात्मा है। सत्य में ही सुरक्षा है, सत्य ही नीति है, सत्य ही पद्धति है, हमारे जीवन का यह अधिष्ठान है। इस अधिष्ठान को नहीं

पकड़े में तो हमारा तेज वापिस नहीं आएगा, ऐसा वे समझते थे। काया, वाचा मनसा सत्य का अधिष्ठान उन्हें अभीप्सित था। मन में जो हेतु हो, वही वाणी में प्रकट हो, वाणी में जो प्रकट हो, वही व्यवहार में आए, ऐसा सत्य का अधिष्ठान यदि नहीं बनेगा, तो सत्य के बिना अहिंसा नहीं आ सकती। सत्य से अभय, अभय से अक्रोध, और अक्रोध से अहिंसा आएगी।

सत्य यानी क्या? कौन-सा सत्य? इसकी व्याख्या अपेक्षित नहीं। जो समझ में आया, उस पर तो जीना चाहिए, परिणाम की चिन्ता किये बिना। उस समय के लिये वही सत्य है। यह वीरों का काम है, कायरों का नहीं। सत्यनिष्ठा जिस व्यक्ति में होगी, उसमें अभय आएगा ही। अभय के साथ अहिंसा, अक्रोध, अलोभ आएंगे ही। और उस व्यक्ति में आत्मनिष्ठा आयेगी। सत्य प्रभु की माया है, प्रेम उसका परिमल है।

जीवन में सत्य की नींव बड़ी पक्की पड़ती है। नींव जितनी गहरी और पक्की होगी, भकान उतना ही पक्का और ऊंचा बनेगा। यह नींव जहाँ कच्ची रह गई, वह कार्य-कर्ता जहाँ भी बँटेगा, वहाँ वह थोड़ी-बहुत सेवा भले ही कर ले, समाज में परिवर्तन नहीं ला सकेगा। गांधीजी समाज परिवर्तन के दृष्टा थे। इसलिये बाहर सेवा की बात और भीतर सत्य के अधिष्ठान की बात—इन दोनों को वे एक साथ ले आए।

सत्यनिष्ठा, आत्मनिष्ठा के बल पर चलने वाले व्यक्ति १०-५ भी हों तो गांधीजी का काम कभी भरेगा नहीं और वैसे व्यक्ति न हों तो लाखों-करोड़ों रुपयों से और लम्बी-चौड़ी योजनाओं से कुछ नहीं होगा।

द्वितीय प्रवचन

८-३-७३

अपराह्न ३ बजे

गांधीजी के सर्वोदय विचार का अधिष्ठान सत्यनिष्ठा में है। व्यक्तिगत जीवन में सत्य-निष्ठा, विचार में, वाणी में, व्यवहार में भी सत्य-निष्ठा—यह आध्यात्मिक अधिष्ठान था। आन्दोलन में भी सत्य ही उनकी व्यवहार-नीति, व्यवहार की गूह रचना (strategy) जीवन-दर्शन सब कुछ था। यह सत्य निष्ठा व्यक्तिगत जीवन में तो ठीक, लेकिन उसे उन्होंने सामाजिक मूल्य क्यों बनाया, सामुदायिक कार्य में प्रेरक-बल (motivation-force) क्यों बनाया, यह सोचने-समझने की बात है। आधार भी वही, प्रेरक तत्व भी वही, कार्य-पद्धति भी वही, ऐसा सत्य का आग्रह क्यों? यह समझना चाहिए।

मन्दिर-मठ में बैठने वाले संन्यासी की यह बात नहीं, समाज में जीने वाले व्यक्ति के लिये, शैक्षणिक कार्य करने वाले संगठनों के लिए, सत्य-निष्ठा, सत्याचरण, भक्ति को गांधीजी ने आवश्यक समझा क्योंकि उसके बिना सत्याग्रह नहीं हो सकता।

गांधीजी के इस विचार का मूल खोजने के लिए १६वीं शताब्दी की यूरोप, अमरीका की स्थिति का थोड़ा परिचय आवश्यक है। १८४२ में कार्ल मार्क्स का ग्रन्थ (Das capital) (दास केपिटल) फ्रान्स में प्रकाशित हुआ और शीघ्र ही उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया। उसके पूर्व भी हेराल्ड, काण्ट जैसे अनेक क्रान्तिकारी विचारक यूरोप में हो गए। किन्तु यहाँ हमें मार्क्स के विचार का थोड़ा-सा आवश्यक परिचय ही पाना है। उस महान् क्रान्तिकारी ने कहा था कि समाज के दलित, पीड़ित, सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति करनी होगी। श्रमिकों का संगठन कर के उन का राज्य कायम करना होगा। आज तक जिन लोगों ने शोषण किया है उन से सत्ता छीन कर श्रमजीवी वर्ग (Proletariat) की सत्ता स्थापित करनी होगी। गांधीजी का सत्य के लिये आग्रह समझने के लिये मार्क्स के विचार को हमें देखना है।

शोषण करने वाले के प्रति, घनिक के प्रति क्रोध, ईर्ष्या, असूया को जगा कर क्रान्ति कराने की बात मार्क्स ने की थी। क्रोध को उन्होंने प्रेरक तत्व माना। श्रमिकों का संगठन, वर्ग-विद्रोह, वर्ग-विद्रोह, वर्ग-संघर्ष—इन में हिंसा की गुप्त स्वीकृति है। हिंसा का मार्क्स ने कहीं आदेश नहीं दिया है। किन्तु क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, मत्सर, भय, आक्रोश—यह सब कुछ उनके विधान में पड़ा है। १८४२ से ले कर १९१७ की रूस की क्रान्ति तक असत्य, ईर्ष्या, असूया,

क्रोध, विद्वेष, हिंसा क्रान्ति के प्रेरक बल माने गये। जहाँ-जहाँ यह विचार फैला, वहाँ-वहाँ माना गया कि इन के बिना क्रान्ति नहीं होगी। रूस की १९१७ की क्रान्ति में यही प्रेरक बल लाये गये और उससे पूर्व १९१२ में चीन में जिस क्रान्ति का आरम्भ हुआ और १९४९ तक जो चली, उस में भी वही प्रेरक तत्त्व रहा। ईर्ष्या, विद्वेष, संघर्ष का एक आर्थिक, सामाजिक मूल्य बन गया था।

गांधीजी ने इस सनातन देश में बैठ कर यह तथ्य देख लिया था। दक्षिण अफ्रिका में हिंसा, विद्वेष, उन्होंने देखे थे, प्रथम महायुद्ध भी देखा था। अहिंसा की बात उन्होंने केवल कुशल नीति के नाते नहीं उठाई थी। उन के साथी भी यही समझते रहे कि भारत की जनता के पास शक्ति नहीं थी। इसलिये गांधीजी ने इस आपत्ति को अवसर बनाया। क्योंकि शास्त्र नहीं थे, इसलिये उन्होंने अहिंसा की बात की हो ऐसा मुझे नहीं लगता। बात और गहरी है।

गांधीजी ने मनुष्य के मन का अध्ययन किया था। प्रथम विश्वयुद्ध उन्होंने देखा था मार्क्स-वादी विचार और उस का परिणाम देखा था। उन्होंने क्रान्ति या समाज परिवर्तन के विज्ञान में, पद्धति में परिवर्तन लाने के लिये पूरा अधिष्ठान ही बदल दिया। क्रोध, हिंसा की जगह अहिंसा को लाने के लिये सत्य का अधिष्ठान उन्हें लाना पड़ा। इसी प्रसंग में नया शब्द आया सर्वोदय। परिवर्तन करने वालों का और जिन का परिवर्तन करना है - उन सब का एक साथ उदय है सर्वोदय।

गांधीजी का विचार इस अध्यात्म-निष्ठ देश के लिये अनुकूल, सहज, स्वभाविक था। सर्वोदय शब्द बहुत विचार-विमर्श के बाद स्वीकार किया गया था। कई लोगों को गांधीजी ने खोज के लिये बैठाया था। यूरोप के अनेक मनीषियों, जैसे कि रस्किन, हमर्सन, थोरो आदि की विचार-धारा गांधीजी की प्रिय थी। कुछ लोगों का कहना है कि रस्किन के "Unto the last" का अनुवाद है सर्वोदय! जो भी हो, मुख्य बात तो यह है कि गांधीजी ने क्रान्ति का अधिष्ठान बदल दिया।

सत्यनिष्ठा से उन्होंने व्यक्तिगत जीवन में ताकत पैदा की। प्रज्ञा, ध्रुव की पौराणिक गाथाओं को दैनिक जीवन का तथ्य बना दिया। एक नया विज्ञान, नई कला लाने का उनका प्रयास था। अहिंसा सत्याशही को ही शोभा देती है ऐसा वे कहते थे। क्रान्ति के प्रेरक तत्त्व बदलने की उनकी दृष्टि थी। गांधीजी ने राजनैतिक क्षेत्र में जो मूल्य स्थापित किये, उन को ही आगे चल कर विनोबाने भूदान, ग्रामदान आदि के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में स्थापित किया।

आज सारे संसार में हिंसा कौसी घबक रही है। उदाहरण के लिये आतंकवादी समूहों के जघन्य हिंसात्मक कारनामे प्रायः सुनने में आते हैं। हिंसा करने वाले तो बोधो हैं ही, लेकिन जिन्होंने क्रोध, ईर्ष्या को प्रेरक तत्व बनाया, वास्तव में तो वे ही इस परिस्थिति के लिये जिम्मेवार हैं। बीज बोने वाले वे हैं। परिणाम आज प्रकट हो रहे हैं।

१९४२ में गांधीजी ने “भारत छोड़ो” आन्दोलन के लिये “करो या मरो” कहा था। लेकिन उनके जेल में जाते ही पूरे देश में तोड़फोड़, हिंसा, लूटपाट का जो दौर चला, वह उनके विचार के अनुरूप तो जरा भी नहीं था। उसी का परिणाम आज सामने आ रहा है कि कहीं भी कोई आन्दोलन ऐसा नहीं चलता जिसमें हिंसा न हो। हिंसा को एक प्रामाण्य (sanction) मिल गया।

दसवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक धर्म के नाम से हिंसा होती थी। ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म के नाम से मारते थे। अब आदर्श के नाम पर, शोषण हटाने के नाम पर, क्रान्ति के नाम पर, मारते हैं। क्रान्ति में हिंसा को क्षम्य मानने के परिणाम १८८० के बाद बहुत जोरों से सामने आने लगे। आज यूरोप अमेरिका में किसी को भी मार डालना मामूली बात है।

हिंसा व क्रोध के पीछे से प्रामाण्य हटा लेने का गांधीजी का भगीरथ प्रयत्न था। सत्य की गंगा को धरती पर उतारने का उनका प्रयास था। केवल प्रजा निःशत्रु थी, इसलिये अहिंसा की बात उन्होंने नहीं की थी। उसके पीछे मानव जीवन का दर्शन था। क्रोध, ईर्ष्या के बल पर मानव भाई-भाई नहीं बन सकता। एक ओर तो मानवों के परस्पर मिलन के अनेकों साधन-हवाई जहाज, टेलीविजन आदि विज्ञान ने सुलभ करा दिये, दूसरी ओर मानवों के मन में क्रोध, विद्वेष भरा है।

सत्यनिष्ठा का महायज्ञ गांधीजी ने शुरू किया था। जो सत्य के आधार से नहीं जी सकेगा, वह सत्याग्रही नहीं बन सकेगा, ऐसा वे कहते थे।

सर्वोदय यानी परिवर्तन लाने वाले और जिनमें परिवर्तन लाना है-वे कोई बंदी नहीं, प्रतिस्पर्धी नहीं। आज इस बात को कोई समझे या न समझे, किन्तु बिना समझे दुनिया का छुटकारा नहीं है।

यूरोप-अमेरिका आदि ईसाई देशों के लोग जिस प्रकार ईसा को समझे नहीं है, वैसे ही भारत के लोग भी गांधी को नहीं समझ पाये हैं। गांधीजी उन महामानवों में से एक थे, जिन के शब्दों का अर्थ कोई नहीं समझा है। खादी को कितने लोग समझे होंगे? खादी अग्नित्रय है, पतिव्रता का व्रत है।

सर्वोदय को अभी समझना बाकी है, गांधी को समझना बाकी है, बुद्ध की कृष्णा को समझना बाकी है। विनम्रता रहे तभी कुछ समझ सकते हैं। सत्यनिष्ठा, व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन में—इस पर गांधीजी ने जो जोर दिया, इसमें बहुत बड़ा रहस्य है। व्यक्तिगत जीवन में आत्मनिष्ठा को लाना है और सामुदायिक जीवन में से हिंसा को मिटाना है। सत्यनिष्ठा का यह दोहरा प्रयोजन है।

सत्यनिष्ठा के बाद दूसरी बात जो गांधीजी ने कही, वह यह थी कि जो किसान है, देहात का जो मनुष्य है, उसमें परिवर्तन लाना होगा, उसका उत्थान करना होगा। वह क्रान्ति का नेता है, प्राण है। चर्खा, ग्रामोद्योग किसान के लिये हैं। “गांव में चलो,” यह गांधीजी का नारा था। “दिल्ली चलो” नहीं। किसान जहां बैठा है, वहीं उसके लिये उद्योग—व्यवस्था बनानी होगी। उसे भूमि से हटाना नहीं है। यही गांधीजी का विचार था।

तथाकथित आधुनिक लोग समझते हैं कि किसान तो पुराण-मतवादी है। गांव में खेती तो पिछड़े मन का प्रतीक है। शहर प्रगति का प्रतीक है। कारखानों में जाना, केन्द्रित उद्योग-वर्धों में काम करना प्रगति का सूचक है। जिनकी जड़ें उखड़ गई हैं ऐसे शहर के कारखानों में काम करने वाले मजदूर प्रगतिशील-शील (forward) हैं। लेकिन गांधीजी ने किसान और देहात की अनन्त शक्तियों को समझा था।

ब्रिटिश राज्य के कारण संपत्ति की कल्पना अनाज, वस्तु, भूमि में से उठ कर पैसे में केन्द्रित हो गई थी। पैसे को संपत्ति (wealth) समझा जाने लगा था। आज तो यूरोप में भी यह बात लोगों की समझ में आ रही है कि मुद्रा (currency) के आधार पर अब दुनिया का व्यापार नहीं चल सकता। पैसे की कीमत आज घट रही है और वस्तुओं की कीमतें बढ़ रही हैं।

मुद्रा-स्फीति अब अधिक दिन टिकने वाली नहीं है। अन्तर्-राष्ट्रीय व्यापार ठप होने वाला है। बैंक में जमा राशि में ऐश्वर्य है या उपभोग्य वस्तुओं की प्रचुरता में ऐश्वर्य है, यह एक गंभीर प्रश्न बन कर आज हमारे सामने उपस्थित है। बहुत दिन तक तो बैंक में जमा राशि को ही ऐश्वर्य माना जाता था।

गांधीजी ने कोई मन्त्र दिया तो यह कि किसान पैसे के मोह से गांव छोड़ कर शहर में न जाए। मार्क्स गांव में फँले किसानों को शहर में भेजना चाहते थे ताकि वहां शोषण का नग्न रूप सामने आने पर वे द्वेष करना सीखें। मार्क्स का कहना था कि किसान कभी क्रान्ति नहीं कर सकेगा। धरती, चर्खा, बूट के साथ रहनेवाले के चिस्त के जो उदारता है, वह क्रान्ति नहीं करने देगी।

मजदूर को क्रोध, द्वेष, हिंसा सिखाना आसान है। इसलिये किसान को उखाड़ कर शहर में ले जाना, मजदूरों का वर्ग बनाना भावसँ को आवश्यक लगता था। किसान का वर्ग नहीं है, वह तो व्यक्ति है। उसका चित्त घरती, आकाश, धूप वर्षा से संतुष्ट होता है। शहर में जाने से वह व्यक्तित्वहीन नाम-हीन बनता है। लाखों में कौन, किसे पूछता है? कौन एक दूसरे को जानता है? व्यक्ति मिट कर वहाँ समुदाय का एक अंश बन जाता है। वर्ग का सदस्य बन जाता है।

किसान को उखाड़ने की यह प्रक्रिया भारत में न आए इसलिये किसान जहाँ है, वहीं पर उसे कताई, बुनाई सिखाओ, उद्योग दो, सफाई सिखाओ, यह गांधीजी का दृष्टिकोण था। शहर की ओर कहीं अर्थहीन दौड़ शुरू न हो जाय, इसलिये कृषि-केन्द्रित उद्योग-व्यवस्था, कृषि-केन्द्रित आर्थिक संयोजन, कृषि-केन्द्रित यंत्र-इन सब की ओर गांधीजी की दृष्टि थी। वे किसान को भिखारी बनाना नहीं चाहते थे। उसे आत्मसम्मान देना चाहते थे। वे होते तो भीक्ष मांगकर अर्थ-संयोजन इस देश में न होता। उसके विरोध में वे आवाज तो उठा ही देते।

एशिया-भर में देहात अधिक हैं, नगर कम। पूरे दक्षिण पूर्व एशिया में कुल जन-संख्या का बड़ा भाग किसान है। उसकी मिटा कर श्रमिक वर्ग खड़ा करना, फिर उनके द्वारा क्षोषण के प्रति वर्ग-संघर्ष कराना-इस प्रक्रिया को छोड़ कर छोटा रास्ता (short cut) गांधीजी ने सुझाया कि किसान को गाँव में ही बन्धा दे दें। खादी-प्रामोद्योग का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति मिटे नहीं और उस की उत्पादन-शक्ति बढ़े।

खादी का आज प्रचार नहीं, व्यापार हो रहा है। यूरोप, अमेरिका के लोग खादी खरीदते हैं और खादी को कुल बिन्नी बढ़ी है, यह खादी का विकास नहीं। हम तो खादी को बेच कर खाने लगे। ठीक वैसे ही, जैसे चरणामृत, प्रसाद को मंदिरों के पुजारी बेच कर खाते हैं।

आत्मनिरीक्षण बही करेगा जो अपने आपको पाप-अपराध में भागी समझेगा। हम निन्दा करने नहीं बैठे हैं। यह सोचने की बात थी और है कि देश के नव निर्माण के लिये बाहर से पैसा न मांगना पड़े और देश की उत्पादन-शक्ति बढ़े। आज तो हमारी हालत यह है कि वर्षा नहीं तो माँगने दौड़े और वर्षा अधिक हुई तो भी माँगने दौड़े। शहरों में कुछ कारखाने बढ़े। पूँजी की उत्पादन शक्ति बढ़ी, यन्त्र की बढ़ी, लेकिन मनुष्य की नहीं बढ़ी।

पश्चिम के सब देशों में यन्त्र की शक्ति बढ़ना मनुष्य की शक्ति घटना, यह बहुत बड़ा सांस्कृतिक प्रश्न हो गया है। फ्रान्स में युवा-वर्ग की क्रान्ति के नेताओं

का कहना है कि एक लाख से अधिक आबादी वाले शहर हमें नहीं चाहिए। बड़े शहरों में आदमी खो जाता है। एक हजार श्रमिकों से बड़ा उत्पादन-केन्द्र नहीं चाहिए। ताकि मनुष्य एक-दूसरे को पहचाने। बड़े उत्पादन-केन्द्रों में मनुष्य खो जाता है। यन्त्रों के साथ उसे जीना पड़ता है, मनुष्यों के साथ नहीं। पूंजीवादी देशों में और समाजवादी साम्यवादी देशों में कहीं भी मनुष्य को अग्रिम (initiative) नहीं है ऐसा उन युवकों का कहना है। वे कहते हैं कि मनुष्य खो गया है, हमें उसे खोज निकालना है। उनके १४-सूत्रीय कार्यक्रम में से सात सूत्र तब ऐसे हैं जो गांधी-विनोबा की विचार-धारा में से ही लिये गये हैं, ऐसा लगता है।

इस देश में यह सोचने की बात थी कि यन्त्र छोटे हों, देहात में ही बन सकें, और उन पर गांव की व्यक्तिगत या सामुदायिक मालिक्यत रह सके। यह जो गांधीजी की खादीग्रामोद्योग की दृष्टि थी, वह आज यूरोप अमेरिका के लिये ऐतिहासिक आवश्यकता बन गई है। हम भले ही अब भी न समझें।

मनुष्य को जड़ से उखड़ाने से बचाना गांधीजी का उद्देश्य था। हम समझ नहीं पाए और हमने तो गांधीजी को बिदा कर दिया। जैसे हममें सत्याग्रह नहीं आ सका, वैसे ही हमसे कृषि-केन्द्रित नव-निर्माण भी नहीं हो सका। गांधीजी के विचार का प्रसाद हमें मिला, लेकिन उसे धारण करने की, उसके अनुसार आचरण करने की, हमें फुसंत नहीं रही। हम विनोबा के गीता-प्रवचन की पुस्तकें बेचते हैं, लेकिन बेचने वालों में से खुद कितने लोग पढ़ते होंगे, कितने समझते होंगे ?

मेरे सामने सारा देश है। १९४७ से १९७३ तक के समाजिक जीवन के नेताओं से लेकर राजनैतिक नेताओं तक सभी अव्यक्त रूप से मेरे सामने हैं। मैं सारे देश से बोल रही हूँ।

एक बहुत बड़ी आर्थिक क्रान्ति की बात गांधीजी ने हमें दी थी। वे कहते थे कि अर्थव्यवस्था में केन्द्रीयकरण नहीं होने देना। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से जुड़ी हुई है केन्द्रित राज्य-व्यवस्था और वह अपनी मदद में सेना को सहा करती है। आज अमेरिका में त्रिमूर्ति (trinity) का ही राज्य है। एक तो देश के समूचे उद्योग-धन्वे के केन्द्रीय संचालक पन्द्रह-बीस व्यक्ति, जिन के हाथ में देश की अर्थनीति की बागडोर है, दूसरे राज्य-सत्ताधारी दूने-गिने व्यक्ति और तीसरे सेना-संचालक। जनता की कोई कीमत नहीं, कोई परवाह नहीं, लोग कुछ भी

कहते रहें, कोई सुनता नहीं जहाँ अर्थ-और उद्योगधन्धे केन्द्रित हुए वहाँ फिर राज्य-सत्ता का विकेन्द्रीकरण असंभव हो जाता है।

गांधीजी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का अधिष्ठान रखना चाहते थे। स्वतंत्रता के बाद जो योजना-आयोग (Planning Commission) बने, उन में गांधीजी को कौन रखता ? १९५१ में नेहरूजी ने विनोबाजी को योजना आयोग के साथ बातचीत के लिये दिल्ली बुलाया था। विनोबाने कहा था कि दस वर्षों में देश को अन्न-वस्त्र के विषय में स्वावलम्बी बनने का मार्ग मैं बताता हूँ। मेरे बताये मार्ग से यदि वसा फल नहीं हुआ तो राजघाट (दिल्ली) पर ही मुझे फाँसी पर चढ़ा देना। लेकिन उनकी बात कौन सुनता? वे कहाँ अर्थ-नीति जानते थे? उन्होंने कहाँ पश्चिम का अर्थ-नीति शास्त्र पढ़ा था? कोल्हू, पर्खा तो प्रतीक मात्र थे। वास्तविक अर्थ-संयोजन तो स्वतंत्रता के बाद करना था। लेकिन उसके लिये गांधीजी के विचार की दृष्टि को मौका ही नहीं मिला।

आज शहरों में बेकारी की जो समस्या बढ़ रही है, देहातों से उठ-उठ कर जनता उद्योग-धन्धे के लिए शहरों में आ रही है। यह समस्या न खड़ी होती, यदि सर्वोदय के इस कार्यक्रम की ओर देश के नेताओं का ध्यान जाता। शिक्षितों के लिये आज नौकरी की व्यवस्था नहीं। शिक्षा के संयोजन के साथ अर्थ-संयोजन का कोई ताल-मेल नहीं। नौकरी की भीख माँगने वालों से ही मेरा अनुरोध है कि अपने-अपने प्रवेश का सर्वेक्षण (survey) स्वयं करें और बताएँ की कहाँ-कहाँ उद्योग-धन्धों, नौकरी आदि की कौसी संभावना पड़ी हुई है। इस की खोज स्वयं उन्हें करनी चाहिये। घूम कर देखें, खोजें। भ्रमारी क्यों बने बैठे हैं?

सारे देश में केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, केन्द्रित अर्थ नीति के कारण परावलम्बन बढ़ता जा रहा है। वह मिटेगा कैसे? शिक्षितों की बेकारी और देहात से उठ आने वालों की भ्रमारी-इन सब का शहरों में कहाँ खपाया जा सकेगा?

चीन के देहात को केन्द्र में रखकर अर्थ-संयोजन करने का, उत्पादन-स्थान बनाने का कुछ प्रयास हुआ, लेकिन पूरा हो नहीं पाया। The Great Leap Beyond (उस पार की महान् छलांग) की बात कही-सुनी जाती है। उन से हम कुछ सीखना चाहते हैं, लेकिन हमारे घर में सिखाने वाले बैठे थे उनसे हमने कुछ नहीं सीखा।

दृतीय प्रवचन

९-३-७३

प्रातः १० बजे

आज गांधीजी के जीवन दर्शन और कार्य-पद्धति का विचार आगे चलाएंगे। राष्ट्रीय काँग्रेस के नेता यह समझ नहीं पाते थे कि अंग्रेजी सत्ता हटाने के साथ चर्खा-ग्रामोद्योग की क्या जरूरत थी? चर्खा-संघ, कस्बियों, बुनकरों के संघ गांधीजी ने क्यों बनाये? देश भर में खादीकेन्द्र, ग्रामोद्योग-केन्द्र क्यों बनाये? यह सब उन लोगों की समझ में नहीं आता था। पहले अंग्रेजी सत्ता हटे, फिर यह सब देखा जायगा, ऐसा उन्हें लगता था। लेकिन गांधीजी जानते थे कि हटाना तो आसान है, निर्माण कठिन है। जीवन-दृष्टि एक ओर, और व्यवहार दूसरी ओर, इस अंतर्विरोध के अभिशाप से हमें बचाने के लिये सत्याग्रह के साथ-साथ खादी-ग्रामोद्योग उन्होंने देश को दिये।

गांधीजी के जीवन-दर्शन में दो महत्त्व के मुद्दे हैं। मनुष्य के नाते स्त्री-पुरुष का समान अधिकार है, स्वाधीनता-संग्राम, देश-सेवा, समाज-सेवा, सर्वत्र उन्होंने स्त्री को पुरुष के समान स्थान दिया। पढ़ेवाले प्रदेशों में तो यह समानता आज तक घर-घर में नहीं पहुँच पाई है। कानून में तो समता है, लेकिन अभी तक भारत के कई पिछड़े प्रदेशों में स्त्रियों का अभी उत्थान नहीं हो पाया है। गांधीजी विभिन्न कार्यक्रमों की मारफत नारी का उत्थान चाहते थे। नवनिर्माण में स्त्री-पुरुष समान हिस्सा लें तभी वह संभव है, यह उनकी दृष्टि थी। देश को उपर उठाने का छोटा-मार्ग (short cut) है, मां को ऊपर उठा देना। मां के उत्थान से बच्चों का उत्थान होगा और इस प्रकार पूरे देश का उत्थान होगा। यह एक विचार गांधीजी ने इस देश में रखा।

हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में स्त्री को पुरुष के बराबर स्थान नहीं है। कर्बलक ईसाई धर्म में भी यही माना जाता है कि पुरुष देह में जन्म के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। गांधी ने आज से ५० वर्ष पहले १९२० में स्त्री को घर से बाहर ला कर, स्वतन्त्रता संग्राम में उसे शामिल करके एक क्रान्तिकारी दर्शन देश में रखा।

प्रेम, सेवा, आत्मोत्सर्ग को लेकर स्त्री बाहर जाएगी ऐसी आशा थी। लेकिन स्त्री को बाहर जाकर पैसे में रस जाने लगा। विधान-सभा, लोक-सभा में रस आने लगा। नारी के नाते जो उस की अपनी शक्ति थी, जो पवित्र कार्य था, उसे मूल गई और स्वर्धा, अहंकार, संघर्ष में पड़ गई। क्रोध, द्वेष, हिंसा में उतर आई। भले ही स्त्री राजदूत, प्रोफेसर, मन्त्री, प्रधानमंत्री आदि पदों तक पहुँच गई लेकिन उस से समाज का जो नव-निर्माण होना चाहिये था,

आत्मनिष्ठा, प्रेम का जो अधिष्ठान जनजीवन में बनना चाहिये था, वह सपना पूरा नहीं हो पाया। वह अभी बाकी है, क्योंकि पुरुषों के स्वीकृत मूल्यों को ही स्त्री ने स्वीकार कर लिया। उन मूल्यों के स्वीकार से शान्ति, प्रेम, बन्धुत्व अधिसा नहीं जा सकते। यह राजनैतिक नेतृत्व का काम नहीं है। यह जीवन-शिक्षण का काम है। और वह पुरुषों वाले ही साधन अपनावे से संभव नहीं। जो पुरुष करते हैं, वही स्त्री करने लगे तो कैसे काम चलेगा ?

बापू के कारण आज स्त्री कम से कम कानून से स्वतंत्र है। अतएव मताधिकार के लिये यहाँ स्त्रियों को लड़ना नहीं पड़ा। यूरोप में राजनैतिक अधिकारों के लिये स्त्री को धीरे संघर्ष करना पड़ा है और अब भी वहाँ कई देशों में राज्य-संचालन में स्त्री का कोई हाथ नहीं। हिन्दुस्तान में गांधीजी के कारण स्त्री को कानूनन स्वतन्त्रता मिल गई। अमेरिका में अर्थनीति, और राजनीति में स्त्री ठहर नहीं सकती। वहाँ का चुनाव सम्बन्धी प्रचार इतना भद्र और अदलील है कि स्त्री उसमें ठहर नहीं सकती। स्त्रियों का राज्य-संचालन में कुछ चलता नहीं। उन का मुक्ति आन्दोलन (Liberation Movement) जोरों से चलता है। ऑस्ट्रेलिया में भी वही हालत है। राजनीति में स्त्रियों को वहाँ कोई स्थान नहीं। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर सब कुछ स्त्रियाँ बन सकती हैं, लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में उनकी कोई गिनती नहीं। स्त्री को जितना-सा सम्मान यहाँ प्राप्त है। उतना अन्य देशों में नहीं है और वह गांधीजी की देन है।

अब अस्यूष्यता-निवारण की बात करें। इस के लिए गांधीजी को बहुत विरोध करना पड़ा हरिजनों के लिए स्थान विधानसभाओं में सुरक्षित न किये जाएं, इस के लिए उन्होंने उपवास भी किया। अलग स्थान देने से हिन्दू-हरिजन में झगड़ा पैदा होगा। इसलिये अस्यूष्यता को हटाया, यह आन्दोलन उन्होंने चलाया। उन की बात को पण्डित, शास्त्री भी नहीं समझे। और जो महत्वाकांक्षी हरिजन थे, वे भेदभाव को ही पूँजी बनाकर सत्ता प्राप्त करने में लगे थे। मुट्ठीभर महत्वाकांक्षी मुस्लिम नेताओं के कारण पाकिस्तान बना, सबर्णों और हरिजनों के बीच जो भेदभाव गहरा करना अंग्रेज को अभीष्ट था, उसी को मिटाने की गांधीजीने प्राणपण से कोशिश की। शास्त्री-पण्डितों का कहना था कि ये हिन्दू धर्म को नष्ट करेंगे, हिन्दुओं को धर्मभ्रष्ट करेंगे। गांधीजी ने कितने साहस से कहा था कि यदि वेद में अस्यूष्यता का समर्थन है, तो ऐसे वेद को मैं नहीं मानता। सच्चा हिन्दू कभी वर्ण-भेद नहीं मान सकता, यह कहने का साहस उन में था।

“सातुर्वर्ष्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः”

गीता की इस पंक्ति का नया अर्थ गांधी-विनोबा ने किया।

धर्म की दृष्टि से मानव की प्रतिष्ठा गांधीजी ने की। जैसे अर्थनीति, में उन्हें मानव की प्रतिष्ठा अभीष्ट थी, वैसे ही धर्म में भी थी। स्त्री-पुरुष-समता और अस्पृश्यता-निवारण, दोनों में उन्होंने मानव-प्रतिष्ठा का माहात्म्य गाया।

हरिजनों को समानता कानून से तो मिली, लेकिन व्यवहार में अब भी उस का उतरना बाकी है। सत्ता के कारण आज जो झगड़े होते हैं, उन्हें आतिगत झगड़े का रंग दे दिया जाता है। लेकिन मूल में सत्ता का लोभ, व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। सभी झगड़े मनुष्य की मानसिक अराजकता के परिणाम हैं। उन्हें संप्रदाय के, धर्म के, वर्ण-भेद के रंग दे दिये जाते हैं। मूल में स्वार्थ कारण होता है, लेकिन अखबार वालों को सनसनी फलाने का साधन इसी से मिलता है, कि संप्रदाय, जाति, धर्म के नाम पर झगड़ों के समाचारों को प्रकाशित किया जाए। इस से देश की राजनैतिक, सामाजिक परिस्थिति के बारे में भ्रम पैदा होता है। अस्तु

गांधीजी का काम विराट है। उन्होंने देश के सामने अष्टादश-सूत्रीय कार्यक्रम रखा था। उस में से कुछ सूत्र हम लोगों ने देखे। अब उन की कार्य-पद्धति के बारे में कुछ देखें। दक्षिण अफ्रिका से उन के लौटने तक कांग्रेस जो भी काम करती थी, वह अधिकतर भाषणों में ही सीमित था। एक ओर जनता से बात करना, दूसरी ओर सरकार से बात करना, सरकार को यह दिखाना कि जनता हमारे साथ है और जनता को यह दिखाना कि सरकार पर दबाव लाने में कांग्रेस किसी हद तक सफल हुई है, यही कार्य-पद्धति थी। लेकिन कांग्रेस में तब तक उच्च-मध्यम-वर्ग के लोग थे। गांधीजी ने अहिंसात्मक असहयोग, स्वदेशी आन्दोलन दिया। कांग्रेस के राष्ट्रीय मंच के स्वरूप के साथ-साथ रचनात्मक कार्य का क्षेत्र उन्होंने खोल दिया। स्वदेशी तक तो तिलक भी पहुँचे थे, लेकिन खादी तक नहीं पहुँचे थे।

जो घनिक मध्यम वर्ग था, वह तो अंग्रेजों के स्कूलों में पढ़ता था। रहन-सहन भी अंग्रेजी था। बापू जानते थे कि गांव में बैठ कर काम करने का मानस अलग है। इन लोगों को तो नेता बनने का शौक है। यह वे अच्छी तरह जानते थे। १८८५ से १९२० तक कांग्रेस में जो काम करते थे वे भाषण कर सकते थे, कुछ प्रभाव, दबाव सरकार पर ला सकते थे। लेकिन कार्यकर्ताओं का समूह (cadre) खड़ा करने का काम गांधीजी ने किया। उन्होंने ने देख लिया था

कि ये लोग देश का निर्माण नहीं कर सकेंगे। इसलिए शिक्षक-सेवक-वर्ग नये सिरे से खड़ा करना पड़ेगा। आजादी तो नेता ले आएंगे, लेकिन नवनिर्माण के लिये रचनात्मक कार्यकर्ता चाहिये।

नेता और कार्यकर्ता को उन्होंने अलग नहीं होने दिया। रचनात्मक और राजनैतिक कार्यकर्ताओं को एक साथ रखा। दो भाँसों के समान उन्होंने इनको सदा साथ रखा। कभी अलग नहीं होने दिया। नया कार्यकर्ता-वर्ग खड़ा करने के लिये उन्होंने रचनात्मक संस्थायें तो बनाईं, लेकिन साथ कांग्रेस के प्रदेश व जिला स्तर पर जो कार्यालय थे, उनका भी राजनैतिक कार्य के साथ-साथ रचनात्मक कार्य का एक दूसरा नया अंग बनाया। कांग्रेस-कमेटियों के प्रादेशिक जिला-स्तरीय कार्यालय तो बनते ही थे। अंग्रेज के हाथ से सत्ता लेने का काम तो उन्हें करना ही था। साथ ही रचनात्मक कार्यक्रम भी उनके सामने रख दिया। इस प्रकार उन्होंने कार्यकर्ताओं का जाल देश भर में फैलाया। एक प्रान्त के कार्यकर्ताओं को दूसरे प्रान्त में भेजना, वहाँ से आदमी को उठाना, वहाँ रहना-इस काम में गांधीजी का अद्भुत कौशल था।

गांधीजी को विनोबा न मिलते यदि उनका काम केवल राजनैतिक होता। विनोबा तो मुमुक्षु थे, आत्मजिज्ञासु थे। दादा धर्माधिकारी, शंकर राव देव, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य भागवत, रविशंकर महाराज-ये सब लोग न जुटते यदि गांधीजी केवल राजनैतिक नेता होते।

गांधीजी द्वारा प्रवर्तित मानस-प्रवाह, विचारधारा का महत्त्व है। सेवाकार्य को लेकर एक देशव्यापी संगठन उन्होंने खड़ा किया। महत्त्वाकांक्षा को संतुलित करने के लिये सेवा का यह महत्त्व उन्होंने स्थापित किया।

जैसे जौहरी हीरा परखता है वैसे आदमी को परखने की उनकी आँख थी। जो जिस काम के योग्य था, उसे वहीं लगा दिया। जिसकी प्रतिभा जिस क्षेत्र के अनुकूल थी, वही कार्यक्षेत्र उसे दिया। सारे देश भर में गांधीवाश्रम बने, वे आगे चल कर देश के नव-निर्माण में सहायक होंगे, ऐसी ऋषि की दृष्टि, योगी की कुशलता उनमें थी। एक हाथ से राज्य-सत्ता अंग्रेजों से लेने का काम और दूसरे हाथ से देश का आर्थिक नव-निर्माण, ऐसी दृष्टि उनकी रही होगी।

अनन्तमुखी प्रतिभा को लेकर अनन्त क्षेत्रों में कार्य करने की शक्ति उनकी थी। रचनात्मक कार्य-कर्ताओं की एक व्यूहरचना उन्होंने देश भर में खड़ी की। दोनों अंग अनिवार्य थे और आज भी हैं। भूदान में राजनीति का अंग त्रि. प्र. २

उपेक्षित रहा। लेकिन गांधीजी ने दोनों अंगों को एक-साध रखा। वे कार्यकर्ता देश भर में घूमते, एक दूसरे से मिलते। कुटुम्ब जैसा वातावरण उनमें आपस में रहता।

गांधीजी की कार्य-पद्धति की विशेषता यह थी कि उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्ताओं के आपसी सम्बन्ध कुटुम्ब जैसे रखे। नेता-अनुयायी का संबंध कभी नहीं आने दिया। संस्थागत संबन्ध नहीं आने दिया। हजारों कार्यकर्ता थे, लेकिन कहीं संस्थोचित औपचारिक सम्बन्ध नहीं था। वेतन के आधार पर काम नहीं चलता था। नेतृत्व का नहीं, कुटुम्ब का सम्बन्ध उन्होंने बनाया। भिन्न स्वभाव, वृत्ति, योग्यता वाले व्यक्तियों का समान स्नेह से उन्होंने संचालन किया। कोई उनका व्यक्तिगत विरोधी भी होता तो कहते कि भले ही मेरा विरोध करता है, लेकिन देश का काम तो करता है, उसकी इतनी व्यवस्था हो जाए तो अच्छा। साधियों की नासमझी पर यही कहते कि ये लोग कच्चे हैं, लेकिन सच्चे हैं। आज नहीं तो कल बात समझेँगे। आज यदि एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त में जाकर स्नेह आदर पाते हैं तो गांधीजी के ही कारण यह संभव है। राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाने वाले ने कार्यकर्ताओं के साथ आत्मीयता रखी तो संस्था की दीवारें मन में दीवारें नहीं खड़ी कर सकीं। संस्थाएं केवल सुरक्षा के लिये रहीं, दीवारें खड़ी करने के लिये नहीं। खादी-व्यापार का कार्यकर्ता हो या हरिजन-सेवा का, या आदिवासी-सेवा का—सब एक कुटुम्ब के सदस्य थे। हर कार्य के लिये पृथक् संस्था होते हुए भी कार्यकर्ताओं में परस्पर भेदभाव नहीं था।

संस्थागत सम्बन्ध सत्ता के आधार पर रहते हैं। राजनैतिक पक्षों के सम्बन्ध स्पर्धा के आधार पर होते हैं। जहाँ स्पर्धा पर सम्बन्धों का आधार रहता है, वहाँ परस्पर प्रेम, सहयोग संभव नहीं। सर्वोदय-विचार और आन्दोलन में संस्थागत सम्बन्धों को हटाकर सख्य, सहयोग को वे लाना चाहते थे। समुदायिक काम के लिये संगठन तो बनाने ही पड़ेंगे, लेकिन उनका आधार सत्ता या स्पर्धा को नहीं बनाना चाहिये। गांधी-विनोबा की इस कोशिश को आगे आगे आने वालों को जारी रखना पड़ेगा। संगठन तो बनेंगे, लेकिन वे भ्रातृभाव सख्य, सहयोग के आधार पर कैसे खड़े होंगे, यह खोजना पड़ेगा। व्यक्तिगत स्नेह, सख्य का आज संस्थाओं में दर्शन दुर्लभ है।

विरोधी को देखकर भी प्यार उमड़े, ऐसे सम्बन्ध कैसे बनें? गांधीजी के समय में एक वातावरण था। संस्थागत, आदर्शगत विरोध के बावजूद सब बन्धनों की दीवारें तोड़कर जब मनुष्य मिलता है, और दोनों मिलने वाले खुश होते

हैं, तब देश का भविष्य बनता है। आज तो गांधीजी के जमाने के बाद लोगों के दिल छोटे हो गए हैं।

“नाल्पे सुखमस्ति, यद् वं भूमा तत्सुखम् ।।”

“महाभानवेर सागरेर तीरे ”—

में गुरुदेव टागोर के महान् हृदय की ही कल्पना थी। कार्यकर्ताओं के दिल प्रेम स्नेह से ही विशाल हो सकते हैं। देश के लिये जो कोई कार्य करता है, वह अपना है, उसके सब सुख-दुःख में दीड़ जाना फिर सहज रूप से होगा। हृदय की यह विशालता सध सकी तो आन्दोलन का भविष्य कुछ टिकेगा। संस्थाओं में मानव-अधिष्ठित सम्बन्ध लाकर बँडाना होगा। राष्ट्रीय एकता मानवीय सम्बन्धों के आधार पर खड़ी होगी तो देश का भविष्य उज्ज्वल होगा।

गांधीजी का कार्य घनाधारित नहीं था, मानवाधारित था। उनके पास पैसा आता था किन्तु जो पैसा देगा, उसके जीवन में हमारे विचार का, आदर्श का प्रश्न न हो, तो उसका पैसा किस कामका? उसकी आस्था श्रद्धा हमारे कार्य के लिये न हो तो घनाधारित व्यवस्था बनेगी। बापू आदमी को पहले देखते थे और पैसा बाद में लेते थे।

पिछले २०-२५ वर्षों में हमारा काम पैसे पर आधारित हो गया। घनाधारित संयोजन हमने किया, श्रमाधारित नहीं। उसके दुष्परिणाम आज हमारे सामने हैं। गांधीजी ने आदमी को पहले रखा, पैसे को बाद में।

इस प्रकार आज हमने गांधीजी के जीवन-दर्शन और कार्य-पद्धति के चार पहलू देखे।

१. राजनैतिक और रचनात्मक कार्य को एक साथ ले चलने की दूरदृष्टि थी। दोनों कार्यकर्ताओं का सम्मिलित जाल देश भर में उन्होंने फैलाया।

२. सत्ता नहीं सेवा, स्पर्धा नहीं सहयोग, संस्था नहीं मानवीय सम्बन्ध की प्रतिष्ठा उनके हाथों हुई। १९२० से १९४५ तक कितना विराट् कार्य देश भर में हुआ। लेकिन राजनैतिक कार्य के केन्द्र संस्था नहीं, आश्रम बने। कार्यकर्ता व्यक्ति होता था, सेक्रेटरी या अध्यक्ष नहीं होता था। नेता की मनोवृत्ति छोड़कर कौटुम्बिक मनोवृत्ति खड़ी की। नेता नहीं, आप्त बनकर, सेबक बनकर काम होगा, यह उन्होंने सिखाया। कोई बापू था, कोई काका, कोई मामा, इस प्रकार कौटुम्बिक सम्बन्धों का जो आधार खड़ा हुआ, उसका महान् सांस्कृतिक भूष्य था।

३. श्री-पुरुष-समता और स्वाधीनता तथा अस्पृश्यता-निवारण के द्वारा उन्होंने मानव की प्रतिष्ठा की।

४. धन को नहीं, मनुष्य को उन्होंने प्रधानता दी।

चतुर्थ प्रवचन

१०-३-७३

प्रातः १० बजे

१९२० से १९४५ तक के २५ वर्षों का समय सर्वोदय विचार और आन्दोलन के लिये तपस्वर्षा का समय था। द्रष्टा गांधी ने मूलभूत अधिष्ठान या आधार बिना। समाज में एक दूसरे की सहायता से सबका उदय, शान्ति से, अविरोध से ही। सर्वोदय से ही किसान का उत्थान, कृषि-आधारित अर्थ-व्यवस्था आदि सम्भव हैं, यह समझाने के लिये इस काल में जन-मानस तैयार किया गया।

अनेकानेक व्यक्ति गांधीजी के विराट् कार्य-क्षेत्र के एक-एक पहलू को लेकर अध्ययन, प्रयोग आदि में जुट गए। उनके आध्यात्मिक विचारों को लेकर विनोबा रविशंकर महाराज, दादा धर्माधिकारी, आचार्य भागवत, किशोरलाल मधुवालय, शंकरराव देव इत्यादि अध्ययन, चिंतन, मनन, लेखन आदि में लग गए। सत्य के अधिष्ठान का विकास करने में ये लोग लग गए। आर्यनाथकम् आशादेवी इत्यादि बुनियादी तालीम के विकास में लग गए। जाकिर हुसेन, मीलाना अबुल कलाम आजाद आदि कुरान में गांधी के विचार से मिलते-जुलते अंश खोजने लगे। दीनानाथ एंग्लूज, डोनाल्ड प्रूम जैसे ईसाई यह विश्वास में जुट गए कि किस प्रकार गांधी के विचार में ईसा के ही मूलभूत सूत्र हैं।

सर्वोदय के तत्त्व-विज्ञान को पुष्ट बनाने वाले अनेकानेक व्यक्ति अध्ययन लेखन आदि में प्रयत्न हुए। सर्वोदय के आधारभूत अर्थशास्त्र (economics) की व्याख्या कुमारव्या, जावडेकर, आदि ने की, ताकि वह आधुनिक विश्वविद्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों की समझ में आ सके।

गांधीजी के राजनैतिक और आर्थिक विचारों को राजेन्द्रप्रसाद, कुपलानी, राजगोपालाचार्य, धीरेन्द्र मजुमुदार आदि ने आधुनिक शिक्षितों के लिये बोधगम्य बनाया। ये लोग न होते तो आधुनिक युवक गांधीजी की बात को समझ न पाते। ये कुछ गिने-चुने नाम केवल निर्देश के लिये कहे। अन्य भी अनेकानेक चिन्तक, लेखक कार्यकर्ता थे, जिन सबके काम का एक-सा महत्त्व है।

बिहार में लक्ष्मीप्रसादजी, ध्वजाप्रसाद साहू, उड़ीसा में गोपबन्धु चौधरी- इस प्रकार प्रत्येक प्रान्त में वीर लोग बैठ गए। गांधीजी ने विचारों का जो कल्चा मसाला दिया था उसके तत्वज्ञान को बनाने में और उसे प्रयोगसिद्ध बनाने में लग गए। इस प्रकार जैसे एक सांगोपांग अर्थशास्त्र का निर्माण हुआ जिसे पाश्चात्य अर्थशास्त्राय परिभाषाओं में शिक्षित व्यक्ति समझ सके, वैसे ही दूसरी ओर।

जाकिर हुसेन, नानामाई भट्ट, हीरालाल शास्त्री आदि ने शिक्षण के प्रयोग शुरू कर दिये। निसर्गोपचार की पद्धति एवं औषध के रूप में रामनाम के प्रयोग के विकास में बालकोबा जैसे व्यक्ति लगे : भारत भर में निसर्गोपचार केन्द्र बनने लगे और गांधीजी का आरोग्य-औषध-विषयक विचार प्रत्यक्ष प्रयोग में लाया जाने लगा।

जीवन का कोई भी अंग गांधीजी ने नहीं छोड़ा। आहार, औषध में प्रयोग हुए। राजनीति के विचारों की सत्यनिष्ठा, सस्य के आचार पर बैठाने में जवाहर लाल, जयप्रकाश जैसे लोग जुट गए। गांधीजी का राजनैतिक दर्शन-शास्त्र भी बनने लगा।

जब कोई द्रष्टा कोई विचार प्रकट करता है तो उस का जीवन-दर्शन समझाने के लिये तपस्वियों की जरूरत होती है। देश के सोमाग्य से दार्शनिक साहित्यिक, कवि गांधीजी के विचार को लेकर जुट गए। १९२० से १९४५ तक एक युग रहा। मंचिलोधारण गुप्त, मेधापी, सुब्रह्मण्य भारती, जैसे अनेकानेक कवि गांधीजी की विचारधारा को काव्यबद्ध करने लगे। अनेक प्रयोगशील सखे हो गए। अकेले गांधीजी ने सर्वोदय-विचार का देशव्यापी आन्दोलन नहीं बनाया, गोबर्धन पर्वत उठाने में गोप-बालकों ने भी तो लाठी का सहारा दिया था। लंकाविजय में वानरों की सहायता भी थी। दर्शन एक व्यक्ति का होता है। उसे प्रयोगसिद्ध दूसरा व्यक्ति बनाता है प्रयोगसिद्ध ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहेंगे। पतञ्जलि ने योग पर केवल ग्रन्थ नहीं लिखा। उन्होंने प्रयोग न किये होते तो योगसूत्र का वह मूल्य न होता जो है।

उस समय की परिस्थिति इतनी अनुकूल थी कि गांधीजी के आंदोलन को सरकार सन्देश की नजर से देखती थी और कार्यकर्ताओं की जेल-यात्रा चलती ही रहती थी। आज जैसा सुख नहीं था। आज तो सर्वोदय कार्यकर्ता को लाठी गोली नहीं खानी पड़ती, उसकी संपत्ति जप्त नहीं की जाती। वह तपस्वर्या का काल था। खादी-केन्द्र भी सुरक्षित नहीं थे। 'बन्दे मातरम्' के उच्चारण के लिये हंटर पडते थे। खादी टोपी, कुर्ता भी सन्देश की नजर से देखे जाते थे। खादी के गठुर कन्धों पर लाद कर बेचने जाना पड़ता था। आज जैसे एम्पोरियम नहीं वे विक्री के लिये। आधम, घर उखाड़े जाते थे।

जो लोग बुनियादी तालीम, खादी, हरिजन-सेवा, ग्रामोद्योग आदि का काम चलाते थे। उनके लिये एक तो गांव में जाना ही तपस्वर्या थी। एक ओर से नया साहस, नई उमंग, रोमांस और दूसरी ओर से गांव में जाने, बैठने की

तपस्वर्या । इस तपोबल से ही सर्वोदय विचार और आन्दोलन दोनों पुष्ट हुए । उसमें कमी क्या रह गई थी, यह संक्षेप में देख कर हम विनोबा-दुर्ग में प्रवेश करेंगे ।

पहली कमी तो यह रही कि गांधीजी के अधिष्ठान सत्यनिष्ठा को उनके साधियों ने गम्भीरता से, गहराई से, श्रद्धा से नहीं उठाया । वे लोग इतना ही समझे कि बापू के सामने झूठ नहीं बोलना है । उनकी पैनी नजर के सामने झूठ चल नहीं सकता । इसलिये उनके सामने सब बोलेंगे । लेकिन अंग्रेज के साथ झूठ बोले तो चलेगा । वैसे ही अहिंसा शब्द उन्हें भारी लगा । इसलिये शान्तिपूर्ण प्रतिकार (peaceful resistance) शब्द कांग्रेस ने स्वीकार किया । कांग्रेस का इतिहास देखें तो अहिंसा शब्द की स्वीकृति उस में नहीं होगी । शान्तिपूर्ण प्रतिकार इसलिये स्वीकार किया क्योंकि पास में शस्त्र नहीं थे । हम अपने जीवन में अहिंसा लाएँगे, यह किसीने नहीं कहा । उधर गांधीजी ऐसे द्रष्टा थे जो कहते थे कि हिंसा से स्वराज्य आता है तो मुझे नहीं चाहिए ।

गांधीजी जानते थे कि सत्य, अहिंसा आदि से यदि यहाँ स्वाधीनता मिली तो जिसनी कोलोनीज (उपनिवेश) एशिया, अफ्रीका में बनी है, उन सब के लिये यह देश प्रकाश का दीपस्तम्भ बन जाएगा । केवल स्वार्थ की उनकी दृष्टि नहीं थी । यदि हिंसा, असत्य से स्वराज्य आया तो संसार के लिये आध्यात्मिक मार्गदर्शन की संभावना बन्द हो जाएगी । वैसे समुदाय कमी कहीं खड़ा नहीं होगा, यह उनकी दृष्टि थी ।

गांधीजी लोकतंत्रवादी व्यक्ति थे । साधी लोग जितना-सा समझ सकें, उन्होंने यही कहा कि चलो यह भी ठीक है । उनके बिना तो काम चलेगा नहीं । इसलिये उनकी बात को चला लिया । नये मानव-धर्म का प्रकाशन वे सत्य, अहिंसा से कर रहे थे । मानो बुद्ध, महावीर, ईसा की वाणी को आधुनिक संदर्भ में नये अर्थ में प्रस्तुत कर रहे थे । सत्य, अहिंसा आदि को साधी लोग प्रार्थना में बोलते रहे, लेकिन जीवन में श्रद्धा, निष्ठा के साथ उसे स्वीकार नहीं किया । सर्वोदय का मानसिक अधिष्ठान (psychological foundation) कभी ठीक से बनाया ही नहीं जा सका ।

यन्त्र-विज्ञान के उपयोग की नयी पद्धति निकालनी चाहिए, पश्चिम की तकल नहीं करनी चाहिए, यन्त्र-शक्ति का उपयोग मनुष्य व पशु के बल को हटा कर नहीं होना चाहिए-गांधीजी की इन बातों को लोग पकड़ नहीं पाये । इसलिये चर्खे

का तत्वज्ञान अधिकांश लोगों की समझ के बाहर रहा । १९३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में अर्थनीति पर अलग विचार प्रकट किये गये ।

तीसरी कमी यह रह गई कि गांधीजी के साथियों में से किसीने उनकी समग्र दृष्टि को नहीं पकड़ा । गांधीजी की दृष्टि से तो कोई एक बात दूसरी से कम महत्त्व की नहीं थी । वायसराय से बात करना हो या कांग्रेस कार्य-कारिणी समिति की बैठक हो या किसी कार्यकर्ता की छोटी-सी बात हो-सब का उनके लिये समान महत्त्व था । लेकिन उनके साथियों में से किसीने उनकी अर्थनीति की उपेक्षा की, किसीने प्रार्थना की, तो किसीने अहिंसा की । उनका समग्र दृष्टि में श्रद्धा विनोबा जैसे एकाध व्यक्ति की हुई होगी । और विनोबा का, गांधीजी से उतर कर, पहला दर्जा न मानने वाला वर्ण नेताओं में रह गया । किसी ने यह नहीं किया कि गांधीजी की दृष्टि को या तो पूरी उठाये या पूरी छोड़ दें । जोड़-तोड़ बँटाने (adjustment) से श्रुति नहीं होती । विनोबा के साथियों ने भी ऐसी भूल की ।

जीवन का प्रत्येक क्षण शाश्वत है, उसे समग्रता से जी लेना चाहिये । कार्य कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं । गांधीजी की समग्रता को उनके साथियों ने नहीं पकड़ा । उनके साथियों में से कोई प्रार्थना पर हंसता था । तो कोई खादी पर । वे लोग यह नहीं सोचते थे कि खादी या प्रार्थना हमारी समझ के बाहर है । उनमें यह नम्रता होती तो ठीक था । लेकिन उन लोगोंने तो अपनी अपनी रुचि या समझदारी के अनुसार यही मान लिया कि गांधीजी के दर्शन या कार्य में एक-दो बातें ही महत्त्व की हैं । इसी सखिष्ठतावस्था के कारण उनके साथियों में परस्पर अंतर आ गया । हरेक ने अपनी रुचि के कार्य को महत्त्व दिया और जिस अंग के प्रति अपने चित्त में उपेक्षा थी या तुच्छ भाव था, उस में संलग्न व्यक्ति के साथ से भी निकटता का अनुभव नहीं आ सका । अमुक अंग हमारी समझ में नहीं आता ऐसी नम्रता होती तो बात दूसरी थी, लेकिन श्रद्धा रखकर ऐसा करने वाले बहुत कम लोग निकले ।

गांधीजी सब जानते थे । सब को पहचानने वाले, अक्षण्ड जागृति वाले व्यक्ति थे । ज्ञानबल, तपोबल से उन्हें सर्वोच्च विचार प्राप्त हुआ । लेकिन उन के कार्यकर्ताओं के और उनके बारे में बोलने वालों के जीवन में अधिष्ठान की कमी रह गई ।

१९४९ में बापू के जाने के एक वर्ष के भीतर ही उनकी स्थापित सब संस्थाएं बिखर चुकी थीं । उन को एक घागे में पिरोने वाला, विभिन्न कार्य क्षेत्रों में विभाजित और सखिष्ठत कार्यकर्ताओं को एक जगह लाने वाला विनोबा

जैसा व्यक्ति निकला । चरखा, ग्रामोद्योग, तेलघानी, आदिवासी-सेवा, हरिजन सेवा आदि क्षेत्रों में अलग-अलग बंटे हुए कार्यकर्ताओं में से ही कोई-कोई मठाधीश बन कर संप्रदाय न बनाने लगे, इस विचार से १९४८ में एक परिपद की गई । उसमें विनोबाने प्रस्ताव रखा कि सारी संस्थाओं का ऐयय-संयोजन (co-ordination) करने के लिए एक संस्था बने । कार्यकर्ताओं को एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र का परिचय हो, विचारों का आदान-प्रदान हो सके, इसके लिए एकबार गांधीजी के विचार को जानने वालों का एक सम्मेलन हो, यह भी उनका प्रस्ताव था ।

आन्दोलन की बात तक विनोबा के चित्त में नहीं थी । परिस्थिति में जो आकांक्षा पड़ी होती है, व्यक्तिगतः प्रतीत होती रहती है, वह किसी महामानव के चित्त में प्रबल रूप धारण करती है । कई लोगों के चित्त में व्यक्तिगतः यह आकांक्षा रही होगी कि कोई ऐसा कार्य-मंच बने जिस में सब मिल कर एक साथ काम कर सकें । सर्वोदय मंच में सब लोग जुटते थे, अनेकों में यह आकांक्षा उठती होगी कि कोई नया राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन खड़ा हो । १९५१ में विनोबा को अचानक प्रेरणा उठी और भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ ।

कार्यकर्ता एक दूसरे से बिछुड़ जाएंगे, बिखर जाएंगे तो देश के नव-निर्माण का गांधी के जीवन-दर्शन के साथ कोई संबन्ध नहीं रह जाएगा, इस विचार से कार्यकर्ताओं के संगठन के लिए विनोबा ने प्रतिवर्ष सर्वोदय मंच के आयोजन का सूचन किया ।

विनोबा १९१६ में बनारस में गांधीजी के परिचय में आये । तब वे (विनोबा) काशी में अध्ययन-रत थे । तपस्या तो उन की ६ वर्ष की आयु में ही शुरू हो गई थी । विद्यालय में प्राप्त शिक्षण से पेट भरने की विद्या मिलेगी या आरामा-परमार्थमा मिलेगा, यह प्रश्न उन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही माता पिता से पूछा था ।

बनारस में एक सभा में विनोबा ने देखा कि गांधीजी ने राजा-महाराजाओं की खूब खबर ली है । वे लोग सजे-धजे मंच पर बैठे थे और वापू ने सौम्य मुख-मुद्रा से प्रश्न बाते कहीं । यहाँ तक कि डॉ. एनी बेसेण्ट की भी खबर ली । गांधीजी के बाहर मृदुता और भीतर प्रखरता थी और विनोबा में बाहर प्रखरता और भीतर मृदुता रही है । इस प्रकार गुह बेली की जोड़ी खूब मिली, ठीक वैसे ही जैसे रामकृष्ण परमहंस में बाहर भक्ति और भीतर ज्ञान या विवेकानन्द में बाहर ज्ञान और भीतर भक्ति थी । विनोबा को लगा कि इस

आदमी में हिमालय की शक्ति है और कुटुम्ब-वत्सल गुरुजन की मृदुता है । यह देश का मार्गदर्शक बन सकेगा ।

और जब विनोबा गांधीजी के आश्रम में रहने गए तो पहले छह महीने में ही बापू पहचान गए थे कि इस में ब्रह्मचर्य का तेज है—यह व्यक्ति शक्तिसाली है । यह आश्रम को कुछ देने आया है । वेद, उपनिषद्-दर्शन शास्त्र का गंभीर अध्ययन और अनेकानेक भाषाओं का ज्ञान, प्रखर ब्रह्मविज्ञान—इन सब से विनोबा का व्यक्तित्व संपन्न था । गांधीजी के आश्रम में यह शान्त, मूक, तपस्वी व्यक्ति कतारई, बुनाई, खेती, आहार इत्यादि के प्रयोगों में लगा रहता था । १९३६ में व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रसंग में वैजयन्तीमाला के कौस्तुभ की भांति गांधीजी ने विनोबा को प्रथम सत्याग्रही के रूप में देश के सामने रखा । तब देश ने उन्हें जाना । ज्ञानबल, तपोबल, सत्यनिष्ठा, आत्मबल से संपन्न विनोबा का पहला कदम था—सर्व सेवा-संघ की स्थापना और सर्वोदय मेलों का आयोजन ।

१९५१ में हैदराबाद राज्य में कम्यूनिस्टों ने एक स्थान पर रक्तपात किया था । यह अहिंसा के लिए एक चुनौती थी । बापू कहते थे सत्य को असत्य से टकराना चाहिए । ऐसी हिंसा हो गई यह तो ठीक नहीं, चला चल कर देखा जाए, ऐसा सोच कर सेवाग्राम में गांधीजी की कुटिया को प्रणाम करके कुछ जवानों को साथ लेकर विनोबा निकल पड़े । गांधीजी की दाण्डी यात्रा और विनोबा की सेवाग्राम से पांचमपल्ली की यात्रा दोनों की आत्मा एक है । हिंसा क्यों हुई वह देखने निकले और उसी यात्रा में से भूदान आन्दोलन का जन्म हुआ ।

पञ्चम प्रवचन

१०-३-७३

अपराह्न ३ बजे

विनोबा का व्यक्तित्व और स्वभाव गांधी के व्यक्तित्व और स्वभाव से बहुत भिन्न प्रकार का रहा। गांधी विवाहित, कुटुम्बवत्सल, संसारी व्यक्ति थे। हिन्दुस्तान से बाहर की दुनिया उन्होंने देखी थी। उनका अध्ययन कम था लेकिन व्यावहारिक जीवन का अनुभव था। विनोबा एकान्तप्रिय, प्रखर दार्शनिक, तत्वज्ञानी, प्रखर ब्रह्मचारी, प्रखर संन्यासी रहे हैं। लोगों से मिलने की, बात करने की, मिलनसार वृत्ति गांधी में अधिक थी। विनोबा में लोगों से मिलने की वृत्ति बहुत कम है। किसी से मिलना भी हुआ तो, आंख उठा कर नहीं देखते और घरबार को कुशल पूछना तो उनके स्वभाव में ही नहीं है। एक बार उन्होंने कहा भी था कि गांधीजी से एक कला में नहीं सीख पाया और वह है छोटे से छोटे कार्यकर्ता के व्यक्तिगत सुख-दुःख को खबर पूछना। इसलिये उनका कहना है कि उनके जीवन में जो कुछ लांक-संग्रह हुआ, वह उनके स्वभाव के कारण नहीं बल्कि उनके स्वभाव के बावजूद हुआ।

ऐसे एकान्तप्रिय व्यक्ति राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन चलाएंगे, यह कल्पना न स्वयं उनकी थी, न उनके किसी साथी की थी। जब अहिंसा के लिये चुनौती लड़ी हुई, तब वे उठ कर चल दिये और पांचमपल्ली की एक सभा में उन्होंने पूछा कि ऐसा कोई व्यक्ति है, जो स्वेच्छा से जमीन दे दे? एक व्यक्ति खड़ा हो गया और बोला कि मैं दूंगा। रात भर विनोबा सो नहीं सके। भूमि मांगी और मिल गई, यह कौसी घटना है? यह देश खेती-प्रधान है। अभी तो लोकतन्त्र यहाँ कागज पर ही है। यहाँ से शोषण, गरीबी को हटाना होगा। हिंसा के बीच समाज की आधिक-व्यवस्था में हैं। आधिक शोषण मिटेगा नहीं तो हिंसा मिटेगी नहीं। इस जड़ को उन्होंने पकड़ लिया। गांव के लोगों में से ७०-७५ प्रतिशत लोगों के पास या तो अपनी जमीन नहीं या रुपया नहीं है। उन्हें भूमि मिल सके तो शोषण मिटेगा, यह सोच कर भूदान का आंदोलन पांचमपल्ली की इस घटना के बाद शुरू किया। इस आंदोलन में तीन मुख्य बातें उन्होंने सामने रखीं।

१. 'सब्रै भूमि गोपाल की'-घरती मनुष्य के संग्रह, स्वामित्व की वस्तु नहीं। जल, आकाश, भूमि, वायु, अग्नि मनुष्यकृत नहीं, अतः मनुष्य इन पर स्वामित्व नहीं जमा सकता।

२. गांवों में करोड़ों लोगों पर यदि यही अन्याय, शोषण होता रहा, तो ये हिंसा को लाये बिना नहीं रहेंगे। शीघ्र ही विस्फोट होगा, राष्ट्रव्यापी हिंसात्मक

आन्दोलन चलेंगे। “बुभुक्षितः किं न करोति पापम्” जो स्वयं नहीं जोतता उसके पास जमीन न रहे, और जो जोतता है, उसके पास जमीन रहे—ऐसी व्यवस्था लाकर हम शान्तिमय तरीके से आर्थिक शोषण को जड़ उखाड़ देंगे। शान्ति और सहयोग की यह बात मार्क्स, माओ से आगे का कदम है। मार्क्स का कहना था कि किसान से क्रान्ति नहीं होगी और माओ का कहना रहा है किसान से ही होगी। लेकिन दोनों में प्रेरक तत्त्व नहीं बदले। मार्क्स के अनुसार क्रान्ति का स्थान शहर में था और माओ उसे गांव में ले गये। लेकिन प्रेरक तत्त्व में वैज्ञानिक दृष्टि वे दोनों नहीं ला सके। क्रोध, द्वेष के बदले सख्य, सहयोग नहीं ला सके। यहाँ तो शोषक का द्वेष नहीं, उसकी मानवता जगाकर व्यक्ति के निर्माण की बात थी।

३. राजनैतिक स्वाधीनता में मतदान के अधिकार का कोई अर्थ नहीं, यदि मतदाना सहमा हुआ, डरा हुआ, आश्रित, शोषित हो। उसके मतदान का क्या अर्थ है? गरीब को कोई फँसा ले, भूखे को कोई डरा दे, मत खरीद ले, तो वह मतदान नहीं। मतदान की गंगोत्री में ही विष मिलाने की यह बात होती है।

गांधीजी के हाथों में सर्वोदय विचार, राजनैतिक स्वाधीनता का आन्दोलन नव-निर्माण-कार्य आदि था। अब यह नया कार्यक्रम आ गया भूदान का। इसे प्रभु का संकेत समझ कर विनोबा ने उठाया। भूमि-समस्या उठाई। लोग तो समझे नहीं। गांधीजी ने तो कहा था कि स्वतन्त्र भारत में कोई गरीब नहीं रहेगा। भूमिहीनों का संगठन, भूमिहीनों की समस्या—इस बारे में तो गांधीजी ने कुछ नहीं कहा था न? लकीर के फकीर लोग, संकीर्ण दृष्टि वाले लोग, समझ नहीं पाए। जैसे पण्डित-साक्षियों का झगडा था कि वेदों में असृष्टयता-निवारण कहाँ लिखा है? वैसे ही गांधीजी के विचार और वाणी के बाह्य आकार में आबद्ध बुद्धि वाले, संकीर्ण दृष्टि वाले लोगों को विनोबा की बात समझ में नहीं आई।

विनोबा तो कोई नेता नहीं थे, उनके कोई अनुयायी नहीं थे। १०-१५ व्यक्ति ले कर वे बैठे थे। राष्ट्रध्यायी आन्दोलन ऐसे तो नहीं चलेगा। लोगों को सन्देह हुआ। एक तो नई बात का भय था, दूसरे अपनी संस्था का मोह था। संस्था की जमीन का, पैसे का क्या होगा? यह चिन्ता उठी। क्रान्ति का नया विचार, नया दर्शन होने से चिन्ता होने लगी। विनोबा के सन्देश का बाह्य आकार गांधीजी की वाणी से नया होने के कारण लोगों में सन्देह उठा।

दो महीने तक कोई साथ नहीं आया। इस बीच बारह हजार एकड़ भूमि मिल गई। लोग हँसते थे। सबको सन्देह था, क्योंकि नया विचार था। क्रान्ति-

कारिता का प्रमाण तो यह है कि पण्डित लोग उस पर हंसा करते हैं। हर संत को शास्त्र-शास्त्र-सत्ता-सम्पत्ति-ने सताया है। उसके प्रति सन्देह, विरोध किया है। जब विश्वास हो गया कि सन्त सत्ता का नहीं हटा सकेगा, तभी उसकी पूजा गया है। हमें नष्ट न करना! हम बने रहें तो फिर सब ठीक है। जब जमीन मिलने लगी तब लोगों को लगा कि बात तो कुछ सही है। ऋषभः विनोबा की वाणी खिल उठी। भूदान के अंगोपांग को वे प्रकट करने लगे।

इस प्रकार विनोबा ने सर्वोदय विचार को एक नई दिशा दे दी। राजनैतिक स्वाधीनता के लिये जैसे सत्याग्रह, खादी, प्रायोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण, छी-पुषप-समता आदि को गांधीजी ने उठाया, वैसे ही सर्वोदय विचार के पहलू को विनोबा ने उठाया।

शुरू में पुराने लोग तो कोई इस काम में आये नहीं। वे लोग तो कोई खादी, या तेल-धानी के काम में लगे थे। और कोई विद्यान-सभा, लोक-सभा में जाने की चिन्ता में थे। यहाँ विनोबाने क्या नया काम निकाला या कि घर छोड़ो, गांव-गांव से पैदल चलो। पुराने लोग सावधान हो गए कि यह तो सत्ता संपत्ति की तरफ से विरक्त करने वाला है। अपनी अपनी संस्था को सुरक्षित रख कर इसका साथ दो। संस्था में गांधी जीवित रहेंगे। वे लोग नहीं पहचान पाए कि विनोबा की वाणी में, एक-एक कदम में, गांधी जीते हैं। इसलिये संस्थाओं ने इतना ही किया कि कुछ कार्यकर्ता भेज दिये, लेकिन अपनी सुरक्षा की चिन्ता उन्हें पहले रही। कहीं चाहिये तो यह था कि अपनी संस्थाओं में ताले लगा कर इस काम में कूद पड़ते। राजनैतिक पक्षों ने भी यही किया कि अपनी अपनी सुरक्षा सम्भालते हुए थोड़ा-बहुत सहयोग दिया। अपवाद बिहार का रहा। वहाँ की संस्थाओं ने जितना पैसा, कार्यकर्ता जमीन आदि इस काम में लगाए-उतने अन्यत्र कहीं नहीं लगाए गए।

विनोबा ने जब देखा कि पुराने सावी या राजनैतिक दलों के सदस्य या विधायक कार्यक्रमों के कार्यकर्ता "करो या मरो" नारे से नहीं आएंगे तब वे समझे कि नया कार्यकर्ता-वर्ग खड़ा करना पड़ेगा। दिल्ली में योजना-आयोग Planning Commission से उनकी बातें हुईं। तब जवाहरलालजी ने कह दिया कि विनोबा के मुख से गांधी बोल रहे हैं, गांधी गए नहीं हैं। अस्तु।

इस प्रकार भूदान आन्दोलन के लिये नये कार्यकर्ता-वर्ग की जरूरत पड़ने लगी। १९५२ में बनारस के पास सेवापुरी में सर्वोदय सम्मेलन हुआ। उसमें यह निर्णय हुआ कि सर्वसेवासंघ भूदान के काम को उठायेगा। भूदान का काम शुरू होने के डेढ़ बर्ष बाद कुछ प्रेमी निष्ठावान् साथी जुटे। विनोबा ने खुल

कर अपनी बात कही। सर्व-सेवा-संघ ने इस कार्य को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में उठाया। विनोबा बिहार, बंगाल, दक्षिण भारत गए, पदयात्रा की। भूदान में से ग्रामदान, संपत्तिदान, जीवनदान, प्रखण्डदान, जिलादान इत्यादि कार्यक्रम खिलते गए।

गांधीजी के पीछे कांग्रेस का बहुत बड़ा मंच था, जिसकी प्रतिष्ठा थी, जनमानस पर प्रभाव था। धन की कमी नहीं थी। सबको कितना उत्साह था। विदेशी सत्ता को हटाना था। विनोबा के पास क्या था? कांग्रेस का सत्ताधारी पक्ष था। समाजवादी अर्थव्यवस्था लाने के लिये वे यूरोप की पद्धति लिये बैठे थे। उन्हें लगा कि यह नई बात कहीं से उठी। चर्खा-कताई तक तो ठीक था, लेकिन यह तो उल्लाड़ देगा। राजनीति की ओर सर्वोदय नहीं देखेगा तो ठीक, हम सुरक्षित हैं। हमारा सत्ता का आसन बना रहे। और जनता की श्रद्धा, जो अब हमें मिलती नहीं, उसे प्राप्त करने का भी एक नया साधन मिल गया। त्यागी को प्रणाम करके सत्ताधारी प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं न? सन्तों के आश्रय से, उनकी कृपा लेने से अपनी सत्ता सुरक्षित है।

इस प्रकार कांग्रेस के सत्ता-संपत्तिधारी खुश हुए कि चलो ठीक हुआ। भोगपरायणता में हमारी शक्ति घटनेवाली थी, लेकिन अब इनके कारण बनी रहेगी। यह सामान्य चित्र है। अपवाद तो ये ही।

राजनैतिक पक्षों में तो क्रान्तिकारी कार्यक्रम में कूद पड़ने की ताकत ही नहीं। कांग्रेस की मिश्रित प्रतिक्रिया थी, कुछ सन्देह, कुछ गम, कुछ आशा! और समाजवादी पक्षों को तो भय ही था। लोग समझते थे कि यह विनोबा भक्त बाबा है, यह राजनीति क्या समझेगा? लेकिन बाबा तो एक नजर से सबको नाप लेते थे। वे पूरी राजनीति को घोलकर पी चुके थे। उन्हें सौम्य से सौम्यतर पक्ष लेना था। दिल्ली में भी स्वजन बैठे थे। शोषक भी स्वजन, शोषित भी स्वजन। ऐसे चक्रग्रूह में अकेले घुसना उनका ही काम था। कोई मंच नहीं, तपे हुए, अनुभवी कार्यकर्ता नहीं। कोई चकाचौंध नहीं। गांधी को तो यह सब मिला, लेकिन विनोबा को नहीं मिला।

एक कष्ट दशा में उन्हें सर्वोदय विचार उठाना पड़ा। स्वजनों का सामना था, विदेशी सत्ता का नहीं। मंच नहीं, मनुष्यबल नहीं, अनुभवी कार्यकर्ता नहीं। काम करनेवालों में नये लड़के-लड़कियाँ ही मिले। इतने विराट कार्यक्षेत्र में प्रवेश उनके लिये तो जनसमुद्र में डुबकी लगा जाने के समान था। तैर गए तो प्रभु कृपा, डूब गये तो प्रारब्ध। काम करते-करते सीखो, यह विनोबा का कहना था। प्रारंभिक शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं थी।

१९५३ में काम जब कुछ चल निकला, तो सुभ शकुन यह हुआ कि जय-प्रकाश बाबू का दृष्टिकोण बदल गया। समाजवादी पक्ष छोड़कर वे भूदान आन्दोलन में कूद पड़े। दादा धर्माधिकारी, घोरेन्द्र मजुमदार आदि बात समझने लगे। १९५५ में उड़ीसा में पहला ग्रामदान हुआ। फिर तो प्रखण्डदान, जिलादान, इस प्रकार कार्य बढ़ता ही गया।

विनोबा ने नया मन्त्र दिया ब्रह्मविद्या का। उन्होंने कहा कि देश में क्रान्ति करानी है। सौम्यतम सत्याग्रह की पद्धति खोजनी है। १९५२ में उनका मंच बनने लगा। १९५३ में वे मनसे ऊपर उठने की, ब्रह्मविद्या की बात बोलने लगे। सर्व-धर्म-समभाव ही नहीं, बल्कि धर्म से परे आत्मविद्या प्राप्त नहीं करेंगे तो, सर्वोदय का विचार जी नहीं सकेगा। इसलिये यह आवश्यक था कि कार्यकर्ताओं का ऐसा वर्ग खड़ा होता, जो मनन, आत्म-चिन्तन करता। जैसे गांधीजीने सत्य निष्ठा, सत्याग्रह की बात कही थी, वैसे ही विनोबा ने ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञान की बात कही।

विनोबा ने तपस्या भी अलग बताई। कार्यकर्ता में सत्ता, संपत्ति की लालसा यदि है तो वह कैसे कहेगा कि सत्ताधारी में क्रान्ति लानी है? विनोबा को मनुष्य के अन्तरङ्ग से काम लेना था। बापू को बाह्य प्रवृत्ति पर जोर देना पड़ा था। शोषण की जड़ें मनुष्य के हृदय में हैं, इसलिये विनोबा का जोर बाह्य-प्रवृत्ति पर इतना नहीं रहा, जितना अन्तरङ्ग पर रहा।

संपत्ति हिंसा लाती है। कार्यकर्ता जब जनता में जाकर कहेगा कि सत्ता-संपत्ति की आकांक्षा में से शोषण आता है, तो जनता पूछेगी कि स्वयं आप को कितनी जायदाद, संपत्ति है? कार्यकर्ता के अपने जीवन में क्रोध, हिंसा है या नहीं, यह मूलभूत प्रश्न है। गांधीजी के जमाने में विदेशी सत्ता को हटाना था कार्यकर्ता के प्रति सबकी सहानुभूति थी। यहाँ तो उपदेशक, शिक्षक बनकर जाना था। स्वामिस्व छोड़ो, यह कहनेवाले कार्यकर्ता के प्रति लोगों के चित्त में ऐसा सन्देह उठता है कि यह क्या सिखाने आया है? जिन्हे विधान-सभा, लोकसभा में जाना है उनके चित्त में अपराध भावना जगाने वाले कार्यकर्ता के प्रति उनकी सहानुभूति क्यों होने लगी? घन, सत्ता का लालच तो सबके चित्त में पड़ा है। अक्षफल गरीब अमीर होता है। सब में अपराध की भावना जागने की संभावना तो है ही, क्योंकि आकांक्षा तो सबके चित्त में पड़ी है।

लोगों की सामान्य प्रतिक्रिया यही होती थी कि बात तो ठीक है, लेकिन हमें कुछ छोड़ना न पड़े, हमें कूद पड़ने को कोई न करे। कुछ पैसा ले आओ,

लेकिन हमारा सत्ता-सम्पत्ति का प्रश्न बना रहे, उसे मत छोड़ो। इस प्रकार अपना अंतरंग बचाते हुए १९५४ से १९६० तक लोगों ने घन से सहयोग दिया।

गांधीजी के कार्यकर्ता से भूदान कार्यकर्ता की परिस्थिति बहुत भिन्न थी। पहले कार्यकर्ता जनता को स्वाधीनता देने को जाता था। अपने भीतर शोषण की जड़ें देखकर अपने परिवार की गरीबी आग में झोंक कर गरीबी मिटाने चले थे। भूदान-कार्यकर्ता का अपने हृदय से सब अभिलाषा छोड़नी होती थी। गोली खाना भी आसान है, लेकिन जीते जी अपने जीवन को यज्ञकुण्ड बनाना आसान नहीं। सफल कार्यकर्ता वही हो सकता है, जो अपने चित्त में से संग्रह-प्रभुत्व की लालसा छोड़ चुका हो। नहीं तो उसकी वाणी और आँख में तेज नहीं आएगा। संन्यासी की बादशाही उसमें चाहिये। अपने मन की लालसा मनुष्य को दीन बनाती है।

अंतरंग क्रान्ति की पुकार गांधी के बाद विनोबा ने उठाई। उन्हें ऐसे लोग भी मिल गए जो टिके रहे। गांधी के नेतृत्व से विनोबा के कार्यक्रम में काम करना बहुत कठिन था। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। जिस कार्यकर्ता के चित्त की भूमि तैयार होगी, जिसे आत्मा का ज्ञान होगा, वही हिंसा मिटाने की बात कर सकता है।

विनोबा ने यह गंभीर सत्य पहचान लिया था कि अन्याय की जड़ मनुष्य के मन में है। अन्याय, शोषण के साधन मनुष्य के मन में पड़े हैं। क्रोध, द्वेष उनके प्रतिबिम्ब हैं। अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था में शोषण तो चित्त का प्रतिबिम्ब है। बिम्ब पड़ा है व्यक्ति के मन में, चित्त में। मनुष्य को आत्मज्ञान, आत्मबोध कराने का यह आध्यात्मिक आन्दोलन है। इसका कार्यक्रम, अधिष्ठान फलश्रुति आध्यात्मिक होनी चाहिए।

इस बड़े परिवर्तन को गंभीरता से देखना चाहिए। गांधीयुग के तराजू में विनोबा के काम को तोला नहीं जा सकता। विनोबा के आन्दोलन में दो काम साथ करने हैं।

आत्मविद्या-ब्रह्मविद्या पर मन, से परे जाने पर, विनोबा जोर देते रहे। १९५३ से १९७० तक की उनकी वाणी को देखें तो पता चलता है, कि चाहे वे अर्थनीति पर बोलें, चाहे राजनीति पर बोलें किन्तु अधिष्ठान आध्यात्मिक ही है। विनोबा को समझना असंभव है, जब तक इस देश के अधिष्ठान को नहीं समझेगे। विनोबा-युग में सर्वोदय अधिष्ठान आत्मा पर रहा है।

पष्ठ प्रवचन

११-३-७३

प्रातः १० बजे

विनोबा-युग में सर्वोदय-विचार और आन्दोलन का स्वरूप कैसे विकसित हुआ, किस प्रकार कार्यान्वित हुआ, यह हमें देखना है। जैसा पहले दिन कहा था, समय थोड़ा है। संक्षेप में बात रखनी पड़ेगी।

सत्यनिष्ठा और सत्याग्रह का जो अविच्छान गांधी-युग में सर्वोदय विचार को मिला, उसी का आशय विनोबा-युग में विशद हुआ। सत्यनिष्ठा का महत्त्व और आत्मबोध के बाद आनेवाली आत्मनिष्ठा का सत्याग्रही के लिये अनिवार्य महत्त्व प्रकट हुआ। मन से ऊपर मनुष्य उठे। जिस मन को अनेक वृत्तियाँ हैं, शोषण की जड़ें, अन्याय की जड़ें, हिंसा, संघर्ष की जड़ें, ईर्ष्या, मत्सर, असूया की जड़ें जिसमें पड़ी है, स्वामित्व, प्रभुत्व की लालसा, अभिलाषा, दूसरे के प्रति हिंसा, संघर्ष के प्रति आप्रही वृत्ति जिसमें पड़ी है, उस मन को लेकर सत्याग्रह नहीं हो सकता।

सत्याग्रह का आशय विशद करते हुए विनोबा ब्रह्मविद्या की बात, मन से ऊपर उठने की बात कहते गये। जो सर्वोदय आन्दोलन गांधी-युग में अनिवार्यतः राजनीति-प्रधान बन गया था, वह विनोबा-युग में अर्थनीति-प्रधान बना। इस देश में आर्थिक समस्या मुख्यतः भूमि की समस्या है। देहातों में रहने वालों की बहुत बड़ी संख्या है। यूरोप, अमेरिका की तरह गांव उजाड़ कर गाँव से उन्हें उखाड़ कर शहर बसाने की संभावना नहीं है। लाखों लोग पहले ही शहरों में सड़कों पर और भुंगियों में रह रहे हैं। इसलिये देहातों से लोगों का उठना उचित नहीं! देहातों में ही उनकी समस्या को हल करना पड़ेगा।

इस प्रकार भूमि की आर्थिक समस्या को लेकर विनोबा ने आन्दोलन उठाया। नया कार्यकर्ता-बर्ग खड़ा करना पड़ा। इस बर्ग के शिक्षण के लिये उसे अपने पास रखने का स्वतंत्र काम करना विनोबा के लिये आन्दोलन में संभव नहीं हुआ। परिश्रम का काम ही अधिक हुआ। गांधीजी के कार्यकर्ताओं ने एक जगह बैठकर अधिक काम किया। भूदान कार्यकर्ता को तो सतत घूमते ही रहना पड़ता था। ऐसी स्थिति में शरीर और चित्त को स्वस्थ रखना खल नहीं है। प्रायः सर्वदा अतिथि बन कर रहना, और फिर शरीर, चित्त को स्वस्थ संतुलित, प्रसन्न रखना आसान नहीं है। परिश्रमियों के बीच रहते हुए अपरिग्रह की ज्योति जगाये रखना, अमीरी के बीच रह कर फकोरी की ज्योति प्रज्वलित रखना, सत्ताधारियों के बीच रह कर अपने भीतर सत्ता की अभिलाषा

से मुक्त रहना, इस सब के लिए जो मनोबल, तपोबल, चिन्तन-मनन की शक्ति अपेक्षित है, वह कार्यकर्ता को दे नहीं पाए। दो दिन के शिबिर या वार्षिक मेले से कुछ नहीं होता।

गांधी-युग में तो काम सीखना और करना आसान था। यहां जीने का संदर्भ अलग, काम का स्वरूप अलग, पैर जमा कर कहीं बैठने की सुविधा नहीं और सतत परिश्रम में जो कठोर परीक्षा होती थी उसमें कार्यकर्ता या तो शरीर-मन से टूट जाता था या दूसरों की दी हुई सुविधा अपनाते पर चलने जीने लगता था।

आत्मचिन्तन का जैसा प्रयोजन था, उस के लिए तप की तैयारी करने का, शरीर, मन के संयम का शिक्षण देने का किसी को समय नहीं था, नये-नये कार्यक्रम सामने आते। इतने समय में इतना काम निपटाना है ऐसे निर्धारण (target) सामने रखे जाते। ग्रामदान, प्रखण्डदान, जिलादान जैसे नये-नये कार्यक्रम निकलते गए और कार्यकर्ता की जिम्मेदारी बढ़ती गई।

१९५१-५२ तक बाढ़ की तरह काम बढ़ता गया। नई प्रवृत्तियाँ आती गईं। काम की वृद्धि के अनुरूप कार्यकर्ता बढ़े नहीं। कार्यकर्ता का शिक्षण भी नहीं हो पाया। गांधी-युग में विरोध सहन करना पड़ता था। यहां तो अनुकूलता की बेधियाँ कार्यकर्ता के पैरों में पड़ी थीं। सभी कुछ न कुछ मदद करने को तैयार थे। अनुकूलता ही जंजीर बन गई।

विशाल सर्वोदय सम्मेलन हुंने लगे। जिन की रोक देख कर लोगों को गांधी के जमाने के कॉंग्रेस अधिवेशन याद आ जाते। गवर्नर, मुख्य मन्त्री, बड़े-बड़े पदाधिकारी इन सम्मेलनों में आते। इन सम्मेलनों से ऐसा लगता कि सरकार, जनता सब आन्दोलन के साथ है।

१९०५ से चीन में क्रान्ति चल रही थी। दक्षिण से उत्तर की ओर का लम्बा अभियान (Long March from south to north) पूरा हुआ। इन क्रान्ति में हिंसा, क्रोध, द्वेष का उपयोग हुआ था। फिर भी इतने वर्ष लगे गए। कॉंग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई थी और स्वाधीनता-प्राप्ति कहीं १९४७ में हो सकी। किन्तु, भोले-भाले कार्यकर्ता अनुकूलता की चकाचौंध में समझे कि पांच-दस वर्षों में भूमि-क्रान्ति हो जाएगी। कार्यकर्ता के लिए और जनता के लिए एक बड़ा आभास पैदा हो गया। भूदान का एक राष्ट्रीय मंच बना था, वयों कि सब पार्टियों में लोग स्थाय, सेवा के नाम पर जुटते थे। लेकिन विनोबा

की आरम्भविद्या की, मन से ऊपर उठने की बात, क्रोध, द्वेष को मन से उखाड़ने की बात कोई पूरी नहीं कर सके ।

जैसे बापू के साधियों का जीवन सत्याग्रही न बन पाया वैसे ही विनोबा-युग में उन्हें मदद अधिक मिली, जीवन का शोषण नहीं हुआ । सत्ता-निरपेक्ष, संपत्ति-निरपेक्ष, क्रांति जगाने के शब्द तो उन्होंने ने सीख लिये, लेकिन अपना आन्तरिक परिवर्तन होता है या नहीं, इसका हिसाब किसी ने नहीं लगाया । कितनी जमीन मिली इसका तो खूब हिसाब हुआ, किन्तु कितना आन्तरिक परिवर्तन हुआ, इसकी चिन्ता किसी को नहीं हुई । जैसे गांधोजी के साथी कमजोर पड़ते गए, वैसे ही विनोबा के साथ हुआ । साथी लोग बोलना तो सीख गए, वाणी में राजनीति के बदले लोकनीति की भाषा आये, लेकिन शिक्षण किसी का नहीं हुआ ।

सर्वोदय सम्मेलनों में बहुत लोग जाते, शानदार सम्मेलन होते । अखिल भारतीय स्तर के नेता भी बैठते, सत्ता-संपत्तिधारी भी बैठते । अनेक प्रवृत्तियाँ बढ़ीं, भूदान एक्ट, ग्रामदान एक्ट, ग्राम-निर्माण एक्ट बने । गांवों और शहरों में खूब प्रचार हुआ ।

गांधी-युग में यदि पूरे हिन्दुस्तान से एक लाख कार्यकर्ता आए होंगे तो विनोबा-युग में सर्वोदय-आन्दोलन में दस हजार से अधिक नहीं आए होंगे । इन में पूरा समय देनेवाले, आंशिक समय देनेवाले, सब शामिल हैं । ऐसा तो नहीं कि किसी पर भी घर की जिम्मेदारी न रही हो । कई तो राजनीतिक पक्षों के सदस्य बनकर रहनेवाले भी आए । सर्वोदय के कार्य में श्रद्धा लेकर, अपने जीवन में ब्रह्मविद्या के साक्षात्कार की छटपटाहट लेकर आनेवाले कितने थे ? ऐसे कितने आए होंगे, जिन के मन में एक ही आकांक्षा रही हो कि मेरे चित्त में से, मेरे जीवन में से शोषण का, क्रोध का, अन्त कब होगा ? बहुत ही कम रहे होंगे ।

सम्मेलन देखकर ऐसा लगता कि इस आन्दोलन के पीछे पूरा भारत है । समाज में एक वर्ग की इतनी कार्य के साथ सहानुभूति थी । कुछ विभिन्न संस्थाओं में बैठकर काम की सुविधा देनेवालों का भी एक वर्ग था । गृहस्थाश्रमी कार्यकर्ता के तन-मन की शक्ति घर में और काम में लगी । इतनी कठिन परीक्षा में आज तक जो सामान्य कार्यकर्ता टिके रहे, यह प्रभु का अनुग्रह है । श्रद्धा कायम रही, काम का धागा उसने टूटने नहीं दिया ।

इस देश की मिट्टी में ही कुछ है । विनोबा की तपस्या, प्रभु का अनुग्रह, इनके बल पर ही काम चलता रहा । भूदान, ग्रामदान, लोक-शिक्षण, दपतर,

अस्त्रधार, शान्ति-सेना, इत्यादि बहुमुखी कार्यों को जिम्मेदारी मुठ्ठीभर लोगों पर पर रही। इतनी शक्ति, इतना शिक्षण, कहां से लाते? सीबी-सादी सत्यानिष्ठा, और श्रद्धा का तेज निखरने के बजाय, काम के बोझ में दबता गया।

भूदान-एक बनने के बाद भूमि बांटने का काम शुरू हुआ। इस प्रसंग में सरकारी लोगों के साथ बहुत निकट का संपर्क हुआ। १९५७ से सरकार की ओर से कुछ मदद भी मिलने लगी। संपत्तिदान के लिये भी काफी धूमना पड़ा। क्योंकि उसके बिना, सर्व-सेवा-संघ का काम नहीं चलता। सरकारी अफसरों की मदद लेने के लिये जैसा तपस्वी, आत्मनिर्भर कार्यकर्ता चाहिये था, वंसा कार्यकर्ता नहीं था। पैसा देनेवाले, या कानूनी मदद देनेवाले प्रमुख विकास अधिकारी (Block Development officer) सामान्य अधिकारी भी कितना रोव दिखाते थे।

जो लोग संस्थाओं में बैठे थे, हरिजन-सेवा, गांधी स्मारक-निधि, आदि-वासी सेवा आदि से संबद्ध संस्थाओं के जो कार्यकर्ता थे, उन्हें यह लगने लगा कि हम तो इतने लोकप्रिय नहीं हैं और ये कल के भूदान-कार्यकर्ता की इज्जत देखो! गांधी-युग के कार्यकर्ता को विनोबा-युग के कार्यकर्ता से ईर्ष्या होने लगी थी। १९५७ और आसपास का समय भूदान का शिखर का काल था। भूदान कार्यकर्ता का सब राज्यों में सम्मान था।

गांधी-युग के नेताओं में पुराने नये की भावना थी। प्रकट रूप से तो वे समर्थन करते थे, लेकिन भूदान कार्यकर्ता को उनसे प्यार, आत्मीयता १९५७ के बाद नहीं मिले।

एक ओर तो शोषण की जड़ें चित्त में से निकालना कठिन था, दूसरी ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ थीं। विनोबा की अनन्तमुखी प्रतिभा थी। जीवनदान, श्रावदान, संपत्तिदान का नाम शहर और गांव में चलने लगा। प्रवृत्तियाँ बढ़ती गईं, और कार्यकर्ता-वर्ग विभाजित होता गया। विचार को विचार के रूप में यदि रखा जाता, यह समझने-समझाने की ही काशिश की जाती कि कार्य के इतने अंग हो सकते हैं, विचार को प्रवृत्ति न बनने दिया जाता तो बात दूसरी थी। किन्तु यहाँ तो हर नये विचार में से नई प्रवृत्ति उठती गई और एक साथ हजारों काम आ गए। कार्यकर्ता वही का वही, व्यक्ति वही का वही। नये कार्यकर्ता के शिक्षण का किसी को समय नहीं था।

विनोबा लूपान की गति से आगे बढ़ते थे। उनका साहित्य भी बढ़ रहा था उनके साथ गति रखना संगठन के लिये कठिन होने लगा। गांधीजी कार्यकर्ता की शक्ति नाप लेते थे। जहाँ कठिनाई देखते थे, वहाँ संस्था, संगठन की

दीवारें, नहीं रखते थे। कार्यकर्ताओं का मन पिला देते थे। गांधी अभिजात कुशल संचालक थे। विनोबा भक्त, दार्शनिक, साहित्यिक व्यक्ति ठहरे। उनके पास न इतना समय था, न धीरज, न शान्ति। ब्रह्मचारी, संन्यासी की गति दुनिया वालों से अलग रहती है। विनोबा के चिन्तन की उड़ान, गरुड़ जैसी रही, आकाश को भी छोड़ कर वे तो अवकाश में (Space) में उड़ान भरते रहे। जगत् या विश्व से छोटी बात वे कर नहीं सके।

विनोबा के चिन्तन की गति के साथ कार्यकर्ता की गति नहीं चल सकी। नेता और साधियों की गति में अन्तर पड़ा। गांधी तो रुक जाते थे। लेकिन विनोबा कहते थे मैं रुकूँगा नहीं। यदि कभी उनसे पूछा जाता कि उनके बाद आन्दोलन का क्या होगा तो कहते कि एक विनोबा को जन्म देकर भारत माता बाँस नहीं हो गई है। एक नहीं, सैकड़ों विनोबा उत्पन्न होते रहेंगे।

संगठन के संचालक को कहीं गति प्रवृत्ति को रोकना भी पड़ता है। लेकिन यहाँ तो कार्य की गति से कार्यकर्ता की शक्ति की तुलना नहीं थी। जिम्मेदारी के साथ शिक्षण की तुलना नहीं थी। सत्ता-संपत्तिधारी के बीच रहकर कार्यकर्ता सुरक्षा न जाय इसके लिये उसका बौद्धिक शिक्षण नहीं हो सका।

देश के सामने रक्तरञ्जित क्रांति का पर्याय रखना था। यह बहुत बड़ा काम था। फिर उस क्रांति का परिपुष्ट, सर्वाङ्गीण दर्शन, साम्यवाद के आने का दर्शन-साम्ययोग, वर्ग-विद्वेष की जगह वर्ग-सहयोग — यह देन जो दी जा सकी, यह बहुत बड़ा काम हो गया। १९५१ से १९५७ तक विनोबा ने जो कुछ कहा, उसका अर्थ पकड़ कर उसके अनुकूल संगठन बनाकर काम करने में अभी पचास वर्ष लगेगे।

शामदान के लिए भी कानून बन गया। उसका भी शासन, पद्धति हाथ में आ गई। आन्दोलन की गति अब धीमी पड़ी है। यह प्रभु का वरदान है, क्योंकि कार्यकर्ता को स्वशिक्षण, साधना, तैयारी के लिये अनुकूल अवसर है। तेज गति का बीस साल का काल गया। प्रचार, प्रसार का पर्व समाप्त हुआ। अब नये विचार लाने का, नये काम खड़े करने का अवसर है। यह मन्थर गति कार्यकर्ता के लिये प्रभु का वरदान है। हल चलाने का काम विनोबा का था। सारे देश में हल चल चुका है। प्रचार हो गया, विचार का हल चल चुका है। अब प्रचार, प्रसार नहीं, दौड़-भाग नहीं, निर्माण का काम बाहर-भीतर होना है।

विचार के नाते सर्वोदय का भविष्य उज्ज्वल है। सारे संसार को इस की जरूरत है। संसार भर के तटन वर्तमान परिस्थिति से ऊब रहे हैं। नई

पंचवर्षीय योजना आप देखेंगे तो पता चलेगा कि उसमें खेती की ओर छोटे उद्योग-वर्गों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। १९५१ में विनोबा ने जो कहा था, १९७१ में उस ओर लोगों की आंख गई है। संपूर्ण विनाश होने से पहले हम कुछ जागें, छोटे उद्योग बढ़ाएं, स्थावल्मन्त्र से व्यवसाय, घन्घे खोजें, इस विषय में अनुसन्धान (सोज, Research) करें, सर्वेक्षण (Survey) करें, तो कुछ हो सकता है। दिल्ली वालों का नशा भी अब कुछ उतर रहा है। पश्चिम की नकल छोड़ दें, भारत की परिस्थिति के अनुकूल गंयोजन (planning) हो तो विनाश से बचा जा सकता है।

गांधी का नाम भी अब लेना पड़ेगा। इस देश में हम गांधी को भले ही भूल गए हों, बाहर के देशों में तो वे जीवित हैं, ऐसा लगता है। जेकोस्लोवैकिया ने १९६८ में दस दिन तक रूसी फौजों का जो शान्तिपूर्ण प्रतिकार किया है, उसे गांधी का मार्ग ही कहा है। उनके युवा नेता डुबेचेच खुल्नुमखुल्ला गांधीजी का नाम लेते थे। उन लोग का शान्तिपूर्ण प्रतिकार देखकर लगता था कि गांधीजी का असहयोग का शास्त्र वहां जीवित है। दस दिन तक रूसी फौजों के साथ राष्ट्रव्यापी असहयोग किया गया, कोई दबे नहीं, विवेना, आंस्ट्रिया, (जेस्ली) नाँव, में सर्वोदय केन्द्र चलते हैं।

सर्वोदय-विचार आजकल यूरोप में आधुनिकतम माना जाता है। इसलिये विचार या भविष्य उज्ज्वल है। आन्दोलन का प्रत्यक्ष अनुभव १९५७ के बाद से मुझे नहीं है। सर्वोदय के बारे में कितने विचार है इस बारे में इतने विस्तार में बातचीत भी १९५७ से बाद मैंने हिन्दुस्तान में कहीं नहीं की। यदि आन्दोलन का काम करने वाली संस्थाओं में आपद् न हो, वे स्थितिग्रिय न हो बैठी हों, गतिशील बनने को राजी हों, नये रास्ते खोजने का उनमें साहस हो, तो आन्दोलन का भविष्य भारत में उज्ज्वल है।

राष्ट्रव्यापी स्तर पर आन्दोलन के लिए क्या-क्या किया जा सकता है, इस का संक्षेप में निर्देश अब क्रम-प्राप्त है।

१ प्रचार, प्रसार, दीर्घ-भाग का पर्व अब समाप्त हो चुका है। स्व-शिक्षण, स्वपरिवर्तन का, बाहर-भीतर में निर्माण की विधायकता, सर्वनशीलता का समय है। सर्जन की गति ऊर्ध्व (vertical) होती है, अब तक व्यापक horizontal गति थी। उसमें कर्म के भीतर गहराई नहीं जाती। ऊर्ध्व गति में आरोहण होगा। विनोबा ने कहा है कि यह आन्दोलन नहीं आरोहण है। अब ऐसा पर्व आ गया है कि ऊर्ध्वगति और गहराई बढ़ेगी। इस में काल का महत्त्व नहीं, परिणामों के निर्धारित आंकड़ों targets का महत्त्व नहीं। काम को सुलभ ढंग से समेट कर (consolidate) कर के सुघट्ट

बनाने का पर्व है। आन्दोलन का समाज पर क्या प्रभाव (impact) होता है, इस की चिन्ता छोड़ देगे तो हुतात्मा से मुक्ति हो जाएगी। प्रभाव डालने की इच्छा शोधन का सूक्ष्म स्वरूप है। निवेदन, संवाद किया जा सकता है। समझाया जा सकता है। इससे अधिक क्या हो सकता है ?

प्रभाव डालने की आसुरी इच्छा क्यों हो ? राजनैतिक पक्ष तो वोट लेने के लिए प्रभाव डालते हैं। प्रभाव की चिन्ता उसे होती है जो बदले में कुछ प्राप्त करना चाहता है। भूदान, ग्रामदान में विनोबा की तपस्या और लोगों के सहयोग से काम हो गया। राजनैतिक पक्ष आए, उन्होंने सहानुभूति दिखाई लेकिन वे पार्टी छोड़कर तो नहीं आए न ? उन्होंने मदद कर दी। लेकिन वे अपनी पार्टी में रहते हुए सर्वोदय विचार के अनुकूल कुछ काम कर सके, इसका शिक्षण उनका कहाँ हुआ था ?

यदि प्रभाव की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो, जो काम हुआ है, वह किसी देश के इतिहास में नहीं हुआ। युग-युग में कहीं कभी घटित न होने वाली यह अद्भुत घटना है। इतना काम २० वर्षों में हुआ कि यह एक अद्भुत पर्व ही है। जमीन-मिलना, ग्राम मिलना-तरुण सेना, शांति-सेना का काम होना-सब अद्भुत पर्व है।

२. अब आगे की बात सोचनी होगी। विनोबा ने गहराई के बीज बो दिये। निराशा, हुतात्मा होने जैसी कोई बात नहीं। हमारे पास तप नहीं, बल नहीं, श्रद्धा नहीं, अपना प्रत्यय हम वापस कर सके तो बहुत बड़ा काम होगा।

अब गहराई में उतरने का यानी ऊँचे उठने का समय है। इसके लिये स्वशिक्षण अनिवार्य है। पुराने कार्यकर्तियों के लिए 'रिफ्रेशर कोर्स चलाने की जरूरत है, ताकि उनमें ताजगी आ सके। उनके मन बासी पड़ चुके हैं। उनके तन, मन बुद्धि पर जो कुछ मलिनता का पुट चढ़ चुका है, उसे धोना पड़ेगा। यह प्रसालन पर्व है—व्यक्तिगत और सामुदायिक। इसके लिए कुछ लम्बे शिविर होने चाहिए। दो-तीन दिन का यह काम नहीं है। उसके लिए शरीर, मन की तैयारी चाहिए।

साम्यवादी देशों में क्या प्रश्न हैं, यह समझना होगा। मार्क्स से माओ अलग कैसे हैं ? यह जानने की बात है। साम्यवादी से डरने से या बचने से उसे बँरी मानने से काम नहीं चलेगा। मालूम तो हो कि यह सब क्या है ? आर्थिक नवनिर्माण के लिए एशिया में कितनी नवोदित विचारधाराएँ हैं, इसका अध्ययन होना चाहिए।

ग्राम-निर्माण की पद्धति तो तैयार ही है। उस के लिए कुछ सोचना नहीं है। केवल कार्यकर्ता की मानसिक, बौद्धिक तैयारी होनी चाहिए। और उसके लिए शिक्षण के वर्ग जैसे चलाने होंगे। उपदेश का यह काम नहीं है। शिक्षण का काम है।

३. संगठन का जो कुछ स्वरूप बीस वर्षों में रहा, उसके गुण-दोषों की विनम्रता से, निर्भयता से चर्चा करनी होगी। बदलने की जरूरत होगी तो बदल देंगे, ऐसी तैयारी रखनी होगी।

४. नेतृत्व का जमाना गया। अब गणसेवकत्व का जमाना है। गांधी ने नेता से सेवक बनाया। सेवक से शिक्षक बना और अब विनोबा गणसेवक की बात लाये हैं। साथ मिल कर काम करना है। इस के लिए अब विनोबा जैसा कोई नया नेता खड़ा होगा। कोई नया वातावरण बनेगा, ऐसी आशा न रखें तो अच्छा। अखिल भारतीय स्तर के नेताओं को तो आज देख ही रहे हैं। इस लिए प्रान्तों, राज्यों को केवल आर्थिक दृष्टि से नहीं, कार्य की दृष्टि से भी नेतृत्व के लिए भी आत्मनिर्भर रहना होगा।

५. कार्यकर्ता की शक्ति के अनुसार ही, उसकी शक्ति के प्रमाण में ही काम की जिम्मेदारी उठाई जाय।

६. युवक वर्ग को आकर्षित किए बिना काम नहीं चल सकेता। युवक वर्ग के साथ संवाद, मैत्री के रास्ते ढूँढने पड़ेंगे। एक उपाय उदाहरण के लिए कहती हूँ। जहाँ-जहाँ ग्रामदान, प्रखण्डदान, जिलादान हुए हैं, वहाँ हाईस्कूल के लड़कों के लिए सर्वोदय छात्रावास बनें। उसी में ग्रामदानी गाँवों के लड़के रहें। कोई सर्वोदय कार्यकर्ता साथ रहे। छात्रावास में रहने की फीस पैसे में न ली जाए, बल्कि छात्रावास संबन्धी श्रम के रूप में ली जाए। वहाँ सर्वोदय का और अनेक धर्मों का अध्ययन हो। घर जैसा वातावरण हो। बड़े-बड़े होस्टेल नहीं, छोटे-छोटे हों। कोमल-चित्त बालकों के शिक्षण और सहजीवन के मार्फत बहुत काम हो सकता है। इस माध्यम का बहुत सफल उपयोग आज तक इस देश में और अन्यत्र अनेक आंदोलनों के लिए हुआ है। गैर-राजनैतिक सर्वोदय-छात्रावास का सभी स्वागत करेंगे। देश भर में ऐसे छात्रावास बने तो युवकों से संवाद का बहुत बड़ा माध्यम उपलब्ध होगा।

सप्तम प्रवचन

१२-३-७३

अपराह्न २॥ बजे

परमात्मा की असीम कृपा से अनेक वर्षों बाद आप लोगों से मिलना हुआ। असम की भूमि के गत वर्ष से पुनःदर्शन होने लगे, इसका मुझे नितांत आनन्द है, प्रसन्नता है। एक तो, जिन लोगों से १४-१५ वर्ष पहले स्नेह बन गया था, मैत्री हुई थी, उसका पुनरुज्जीवन हुआ। स्नेह मैत्री का आदि होता है, पल अन्त नहीं होता। फिर से वह मैत्री जी उठी, कुछ उज्ज्वल हुई, इस कारण प्रसन्नता है।

असम प्रदेश सीमा-प्रदेश है। चीन, भूटान, बर्मा, बंगलादेश के साथ जिस की सीमाएं घुलमिल गई हैं, ऐसा महत्वपूर्ण यह सीमा-प्रदेश है। संपूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप को पूर्व के महान देश चीन के साथ जोड़ने वाला यह प्रदेश है। इसलिए यहां क्या होता है, क्या नहीं होता है, इस पर एक हृद तक भारतीय जनता का भविष्य निर्भर है। यहाँ की सरकार, सामाजिक संस्थाएं, सर्वोदय आन्दोलन—इन की ओर मेरा विशेष ध्यान रहता है।

सर्वोदय कार्यकर्ताओं के समक्ष यह विदाई का निवेदन बहुत नम्रता से, श्रद्धा से प्रस्तुत है। आप एक सन्त के आन्दोलन में शामिल हुए हैं, इस बात को भूलें नहीं। विनोबा आध्यात्मिक विभूति हैं। उनका अविष्टान, कार्य-पद्धति माध्यम, फलश्रुति सब कुछ अध्यात्म ही है। अध्यात्म में प्रत्येक कर्म की फल श्रुति अपने भीतर देखनी होती है। चित्त में स्थिरता कहां तक आई? व्यवहार में क्या गुणात्मक परिवर्तन हुआ? आन्तरिक परिवर्तन कसौटी है। ग्राम दान, पुष्टि-कार्य होता जाता रहेगा। समाज-जीवन में काम हांते रहेंगे, बनते बिगड़ते रहेंगे। ऐसे कम लोग होंगे जिन्हें अनुभवो, ज्ञानी, योगी के सत्संग में काम करने को मिले।

इन्द्रियों के लिए ग्रामस्वराज्य-शिक्षण, इत्यादि के काम आप के पास हैं, वाणी द्वारा सर्वोदय की बात समझाना इत्यादि हैं, चित्त के लिए ब्रह्मविद्या है, जहाँ मन से ऊपर उठ कर आत्मदशा, योगदशा में पहुँचना है। पहले के आन्दोलनों में दौड़भाग बहुत थी। ट्रैन से—मोटर से दौड़ना, अनेक सभाओं में बोलना इत्यादि होता था। भूदान, ग्रामदान में पैदल चलने की जो बात है, उस में शरीर, मन को स्वस्थ रखने की सुविधा अधिक है। यह मेरा स्वानुभव है। हवाई-जहाज, रेल आदि की यात्रा से तनाव, दबाव खड़े होते हैं। गांव में शाक-सब्जी फल आदि प्रत्येक वस्तु का जो अद्भुत रूप शरीर के लिए उपलब्ध हैं, वह शहरों में नबीब नहीं होता। दौड़-घूप के कार्यक्रम के बदले आप के पास गांव का सार्विक वातावरण है, राजसिक नहीं। तमोगुण को अबकाश नहीं। सत्वगुण में स्थिर हो

जाइए। निर्द्वन्द्व सत्वस्थ हो जाने के बाद आगे चल कर निस्त्रैगुण्य अवस्था तक आत्मरति में जाया जा सकता है।

आप जिस आन्दोलन में हैं, उस में जन सेवा की कार्यपद्धति सात्विक है। विनोबा जो कुछ लिख गए, बोल गए, वह मनुष्य के भीतर की दिव्यता, भगवान् का प्रकट करने की वाणी बोल गए। शंकरदेव की भूमि मेरे बाप की भूमि है, ऐसा विनोबा यहाँ कहते थे। उन के कार्य में शामिल होने वाले जो भी साथी हैं, उन के लिये यही सोचने की बात है कि जिसने एक बार सन्त के दर्शन पाए, वह छोटे-छोटे सुख-दुःख में कैसे फँसे ? छोटे दायरे से उठा कर जो सन्त हमें ले आया, उस की वाणी को न भूलें।

ग्रामदान कितना हुआ इस की चिन्ता नहीं। बुद्धि की मन्दता मिट कर कितनी तीक्ष्णता आई, वाणी में मृदुता आई या नहीं, देखना तो यह है। काम के दायित्व उठा लेना, क्रान्ति का अहंकार नहीं रखना। तत्परता से काम करना। चार दिन प्रभु का काम कर रहे हैं, यही समझना। व्यक्तिगत उत्थान तभी होगा। जिस आत्मरस आत्म-रत्नि में विनोबा डूबे रहते हैं, उस के अधिकारी बनिये। सन्त के पावन यज्ञ-कर्म में आकर भी सूखे-कोरे रह जायेंगे तो ठीक नहीं। ऊपर से भीयें पत्थर की तरह अनमीने न रहें और भीतर से भी गन्ने की तरह रस लें। आत्मशक्ति, आत्मप्रज्ञा का रस भीतर से लें। साम्यवाद ने व्यक्ति को मूल केन्द्र माना है, दपतर या संस्था को नहीं। एक-एक व्यक्ति दायित्व-पूर्वक अपनी भूमिका संभाल लेगा तो वातावरण बदल जायगा।

महापुरुषों के पास जो लोग आते हैं, वे महापुरुषों को ही देखते हैं, समझते हैं कि हम तो इन के पास ही आए हैं। उन के पास रहने वालों में आपस में आदर, श्रद्धा नहीं रहते। गांधी, विनोबा के पास जो लोग आए, उन का भी यही हुआ। वे एक-दूसरे को सहते रहे, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता रखते रहे, लेकिन उन में आपस में प्यार, आदर नहीं रहा। इसीलिए कार्य में शक्ति नहीं आती महापुरुष के चले जाने पर तो परस्पर प्रेम भी नहीं रह जाता।

नेता जितना आवश्यक होता है उससे अधिक ऐसे कार्यकर्ता आवश्यक होते हैं, जो परस्पर प्रेम-श्रद्धा से मिले हुए हों, जिन्हें कोई निन्दा कर के एक-दूसरे से अलग न कर सके। परिवार में एक दूसरे के गुण-दोष मालूम रहते हैं, फिर भी परिवार की एकता बनी रहती है न ? श्रद्धा-स्नेह से एक-दूसरे की सम्भाल करें। अन्याय, असत्य में साथ न दें, लेकिन इस ढंग से नहीं कि गलती करने वाला पापी है और देखने वाला पुण्यशील है। जिसका दोष बताया गया, उसमें हीनता न बढ़े, यह भी देखना चाहिए।

आप लोगों को हृदय की बात बिना कहे नहीं जाऊँगी। एक दूसरे के प्रति आत्मभाव रखें। सन्त के पवित्र यज्ञ-कार्य को समझाने का प्रभु ने वरदान दिया है, दर्शन हुए, सत्संग हुआ, काम में लग गए। साथियों के गुणों की वृद्धि हो, ऐसी परस्पर भावना होनी चाहिए। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'।

आन्दोलन के जो काम आप कर रहे हैं, ग्रामदान, ग्रामनिर्माण, पुष्टिकार्य इत्यादि, उन के परिणाम की चिन्ता छोड़ दें। आज गांधी-प्रेमियों की सरकार है, कल न भी रहे, मदद करने वाले कोई न रहे। तो लंका में विभीषण के घर की तरह सर्वोदय-कार्यकर्ता का काम चलेगा। जहाँ तक अनुकूलता मिली, सहयोग लिया, लेकिन चित्त में अपेक्षा न बाँधें कि इतना सहयोग मिलेगा तभी काम होगा।

सरकार और राजनीतिक पक्ष यदि सहयोग न करें, समाज की दृष्टिसे अपयश हो तो भी हार नहीं माननी चाहिए। जटायु रावण से जूझ पड़ा था। उसके पंख कट गए वह असफल रहा और रावण सफल रहा। किन्तु, जटायु की असफलता रावण की सफलता से कहीं अधिक उज्ज्वल थी न ?

अलखार वाले आपके काम की रिपोर्टें छापते हैं या नहीं, रेडियो में उसका समाचार आता है या नहीं, इससे काम की कीमत को न तोले। अपनी अन्तर्दशा ही सच्ची कसौटी है। यश-अपयश, सफलता-असफलता को तो आसानी से तोला जा सकता है। लेकिन अन्तर्दशा को तोलने के मूल्य अलग हैं। उसके नाप तौल सन्तों के पास हैं। वह अध्यात्म की कसौटी है। जगत् की कसौटी पर हिसाब लगाकर न देखें। मकान, पैसा, गाड़ी—ये नाप-दण्ड नहीं हैं। ये नये प्रकार के संन्यासी हैं, जो कपीन, भगवाँ बख, शिखा-सूत्र-मुण्डन आदि धारण नहीं करते, बल्कि प्रभुत्व की वासना, संग्रह की वासना का मुण्डन करते हैं। संन्यास धारण करने का स्थान चित्त है, शरीर नहीं। वेचान्तर नहीं वृत्त्यन्तर अपेक्षित है। ऐसे संन्यासी वर्ग की देश को आवश्यकता है।

कार्य का परिणाम क्या हुआ, यह तो आपकी मुत्त-मुद्रा में से दिखाई देना चाहिए। कार्यकर्ता कह सके कि उसमें एक नये मानव का निर्माण हुआ है। चित्त का उदात्त होना, व्यवहार का परिवर्तन, सुख-दुःख, हर्ष-शोक से अतीत होकर जीने की शक्ति उसमें होगी। उसके नाप-तौल अव्यक्त में रहेंगे। इसमें श्रद्धा न हो तो सन्त के आन्दोलन में रहना सार्थक नहीं हो सकता।

यह भोगियों का आन्दोलन नहीं है, कि आज जेल गए और कल सत्ता मिल जाएगी। वह तो होने वाला नहीं है। यह आत्मनिष्ठों का, मानव-भक्तों का, मानव-परायणों का, सत्य-प्रेमियों का आन्दोलन है। इसमें रहने की शक्ति प्रभु आप को दें ऐसी प्रार्थना है।

मार्क्स, माओ, गांधी, उनके बाद क्या ?

प्रथम प्रवचन

१६-३-७३

सायं : ५ बजे

आप लोगों के बीच एक गंभीर विषय पर सहचिन्तन और सहविवेचन करने का अवसर यहाँ की कई बहनों के कारण मिला, इसकी नितान्त प्रसन्नता है। दो तीन दिन तक जो प्रवचन यहाँ चलेंगे, उनके पीछे किसी भी प्रकार के प्रचार या मतपरिवर्तन का हेतु मेरे चित्त में नहीं है। कोई विशेष विचार-प्रणाली या विचार-धारा आपके सामने रखूँ और आपकी विचार प्रणाली या विचार-धारा बदल दूँ, ऐसी अभिसंधि या आकांक्षा मेरे चित्त में नहीं है। किसी आन्दोलन या संगठन की ओर से यह प्रवचन-माला नहीं है।

१९५७-५८ तक सर्वसेवा संघ या सर्वोदय आन्दोलन की ओर से यहाँ आती थी। किन्तु गत वर्ष और इस बार जो आई हैं, वह केवल 'बाईदेव' (श्रीमती अमलप्रभादास) जैसे आप्तजनों के स्नेह-सम्बन्ध के कारण।

इस प्रवचन-माला के लिए यह विषय क्यों चुना या यह विषय मेरे मित्रों के चित्त में क्यों आया, इसका कारण यह है कि पिछले दो-तीन वर्षों में इस विषय पर नेपाल, श्रीलंका में और बर्कले विश्वविद्यालय (कैलिफोर्निया) में बोली हैं। गंभीर विचार के लिए तत्पर, उत्सुक लोगों के बुलाने पर इस विषय पर बोली हैं। यह उत्तेजना का, खंडनात्मक आलोचना (Destructive Criticism) का विषय नहीं है। ये प्रवचन आत्मचिन्तन, सहशिक्षण और संवाद के लिए हैं, प्रचार के लिये नहीं।

इन तीन महापुरुषों के जीवन-दर्शन की, प्रकृति की, कार्यपद्धति की एक गहरी छाप संसार पर पड़ी है। सन् १८५० से १९७० तक का सारे संसार का इतिहास देखा जाए तो पश्चिम, पूरब के देश एशिया, अफ्रिका, यूरोप, अमेरिका इत्यादि में इन तीनों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। हाँ, आस्ट्रेलिया में उतना प्रभाव देखने में नहीं आया है।

१९७२ में छः सप्ताह बहाँ रही हैं। मध्यपूर्व-एशिया, अफ्रीका में इन तीनों के जीवन-दर्शन की गहरी छाप है। कहीं इनमें से किसी के लिए भय

या चिन्ता भी है। लेकिन इन्हें टालकर आज के संसार में कोई अर्थनोति या राजनैतिक व्यवस्था जी सकेगी या औद्योगिक क्रांति आ सकेगी ऐसा दोसता नहीं है। सीमाय से अब संयुक्त राष्ट्रसंघ में हमारा पड़ोसी चीन सदस्य बन गया है। तब से मुझे और भी प्रसन्नता है कि अब इन तीन व्यक्तियों के जीवन-दर्शन का गंभीरता से अध्ययन होगा।

यह लोकशिक्षण का काम राजनैतिक या सामाजिक संस्थाओं का है दुर्भाग्य से राजनैतिक या सामाजिक संस्थाओं में इतनी निरपेक्षता नहीं रह जाते कि वे लोकशिक्षण करें। यदि कोई मान ले कि गांधी हमारे हैं, गांधी प हमारा एकाधिकार (Monopoly) है तो गांधी के जीवन-दर्शन का अध्ययन उनके द्वारा नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे अपना अनुकूल अर्थ लगाएंगे। ऐसा है मार्क्स, माओ के लिए भी हो सकता है।

अनाग्रही बुद्धि और अनासक्त चित्त से अध्ययन होना चाहिए। नहीं त अनर्थ गलतफहमी (Misunderstanding) और भ्रम होते रहेंगे। कम से कम भारत या एशिया अफ्रिका के विकासार्थी (developing) देशों में स्वतन्त्र चिन्तन, अध्ययन होना ही चाहिए। भाष्यकारों, टीकाकारों, अर्थ लगानेवालों व अलग रक्षक अध्ययन होना चाहिए। निन्दापरक अथवा स्तुतिपरक रक्षक वा भाष्यकारों, समीक्षाकारों, को छोड़कर स्वतन्त्र अध्ययन का साहस करना पड़ेगा निर्भयता से, विनम्रता से ही सच्चा अध्ययन हो सकता है। यहाँ जा कुछ कट जायेगा, उसे कृपया अध्ययन की दृष्टि से देखें, पूर्वग्रहदूषित चित्तवृत्ति से नहीं।

१८४८ से १९७० तक इन तीन व्यक्तियों के प्रभाव का गंभीर परिणामानवीय विचारधारा में दिखाई देता है। राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक विचारधारा तक में इनका प्रभाव स्पष्ट है।

१८४२ में मनीषी, महर्षि मार्क्स का ग्रन्थ 'Das Capital' पेरिस प्रकाशित हुआ। बहुत शीघ्र ही उसका अंग्रेजी अनुवाद निकला और जनमानस को हिलानेवाली बात सामने आई। इतिहास को देखने की एक नई दृष्टि उसमें थी। समाज-व्यवस्था में, अर्थ-व्यवस्था में जहाँ भी कहीं अन्याय, शोषण है, वहाँ उसे धर्म के नाम से टालना नहीं! भगवान के नाम से जनत में एक भ्रम पैदा करके उस असन्तोष को तीव्रता, अन्याय की बीभत्सता की हिंसा की जघन्यता को ढकना नहीं। शोषण, अन्याय, गरीबी मानव-कृत हैं, इ का धर्म से या परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म या ईश्वर के नाम से मान अफीम पिला-पिला कर संवेदनशीलता को सुला देना आज तक चलता रहा है य एक बहुत बड़ी बात थी जो आज एशिया, अफ्रीका के गाँव-गाँव में पहुँच चुकी है

दमन, शोषण मानवकृत है, उसकी जड़ मानव-मन में है। यह ईश्वरीय धान नहीं, मनुष्यकृत है, इसमें कोई दिव्य या दैवी बात नहीं है। यह पहली र मार्क्स ने कहा। इससे पहले यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। विज्ञान जीवन को कारण-कार्य-सम्बन्ध में देखने की दृष्टि दी। वैसे, उससे पहले रोप में मध्य युग में सांस्कृतिक युगजागरण (Cultural Renaissance) या औद्योगिक क्रांति ने विज्ञान के साधन, उपकरण मानव को सुलभ बना दिए थे। त्यागत-संगठनगत धर्मों ने मानव-संबंधों पर रहस्यात्मकता का जो आवरण र्ण डाल दिया था, उसे हटाने का प्रयास मार्क्स ने किया। विज्ञान शायद गरीब र कम गरीब बना देता, लेकिन एक वैधक दृष्टि इस मनीषी ने रखी कि दैव प्रारब्ध जैसा कुछ नहीं है। अज्ञात कारणराशि में से एक-एक कारण को हें तो जो ज्ञात बन जाता है उस पर से रहस्यात्मकता का पर्दा उठता जाता। धर्म के नाम से अन्याय, शोषण और गरीबी नहीं चल सकते। ये मनुष्य-ज हैं। इसलिए उन्हें मनुष्य दूर कर सकता है। दलितों-पीड़ितों के लिए ड बड़ा आशा का संदेश आया।

इस संदेश की ज़रूरत थी, क्योंकि यूरोप के देश अपने साम्राज्य फैलाने में स्त थे। साम्राज्य के अंतर्गत देशों में से कच्चा माल लेकर अपने देश में ाकर उस जगह पक्का माल उन देशों में बेचने में लगे। इसमें पुरोहित वर्ग र बहुत बड़ी सहायता मिल सकती थी, इस प्रकार धार्मिक वर्ग तो बढ़ने ही ला था। इसलिए मानव इतिहास के प्रति नई दृष्टि बनाने की ज़रूरत थी।

मानव-संबंधों में कितना क्रांतिकारी दर्शन मार्क्स ने दिया था इसका अंदाज १७३ में नहीं आ सकेगा। पूर्वजन्म, सुकृत, दुष्कृत के आधार पर गरीबी अमीरी र समर्थन धार्मिक लोग करते थे उसके बदले मार्क्स ने कहा था कि धनी और रीब, यह कोई ईश्वर के बनाए हुए नहीं हैं। इसलिए सारी मानवजाति लिये उसने नया दर्शन प्रवृत्त किया। उस दर्शन में समाज को हिला देने ली, जनमानस को झुंझ करनेवाली दूसरी चीज यह थी कि ब्रिताने दलित, िडित हारे-कुचले मनुष्य हैं उन सबको एक होकर, धर्म जाति के भेद भूल र, संगठित हो जाना चाहिए। दलित, पीड़ित, शोषित का कोई देश नहीं, िति नहीं, वंश नहीं। धर्मियों का, पीड़ितों का एक विराट अग्र्यक भ्रातृसंघ ावर्स की कल्पना में था।

१८७६ में मेडम ब्लवेड्सकी ने न्यूयॉर्क में थियोसाफ़िकल सोसाइटी की ापना की। विषयवस्तुत्व की बात उन्होंने जोर से कही। बौद्धिक, मानसिक ञर पर विषयवस्तुत्व के उन्होंने दर्शन किए। धार्मिक, आध्यात्मिक, दृष्टिकोण

से विद्वज्जातृत्व की बात उन्होंने की। सभी धर्मों के, सभी देशों के लोगों को एक होना है, उनकी एकता से राज्य-सीमाएं मिट जाएंगी। राष्ट्रों की दीवारों को मनुष्य का मन, बुद्धि, चित्त जीवित रखते हैं। हमारा चित्त अब्यक्त को धारण कर सकता है। इसलिए ये अब्यक्त बन्धन, दीवारें वहाँ जीवित रह सकती हैं। अब्यक्त में कहीं सीमाएं दीवारें नहीं हैं। वे मनुष्यकृत हैं।

राजनैतिक विचारधाराओं, सांस्कृतिक धार्मिक विचार पद्धतियों की दीवारों का भूगोल या खगोल में कहीं अस्तित्व नहीं है। चित्त में पली हुई सीमाएं ही प्रत्यक्ष गोचर बन जाती हैं। जिनका अस्तित्व केवल मन में है। वे ही हमारे लिए वास्तविक बन गई हैं क्योंकि उन्हें हमारी चेतना में मुनियोजित रूप से भरा गया है।

राष्ट्रगत, राज्यगत सीमाओं से परे होने की बात आन्तरिक स्तर पर १८७६ में उठी, इसलिए बौद्धिक स्तर पर राष्ट्रसंघ इत्यादि की बातें आज सरल लगती हैं। इसीलिए आज किसी भी प्रश्न पर पूरे संसार के संयुक्त दृष्टिकोण से विचार करना सरल लगता है। लेकिन १९ वीं शताब्दी में या २०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यह इतना आसान नहीं था। यह मेडम ब्लेवेल्स्की का सांस्कृतिक योगदान था। मनुष्य को राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक सीमाओं में बांध देना कितना अवैज्ञानिक है, इस बात की ओर उन्होंने विचारशील व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित किया।

आगे चल कर महात्मा गांधी ने दक्षिण-अफ्रीका में मानव को इस बात के लिए जगाया कि अन्याय का प्रतिकार करना होगा। सत्यनिष्ठ बनना होगा। उन्होंने अन्याय, असत्य के विरुद्ध आवाज उठाई।

अन्याय के प्रतिकार के लिए मानसिक, बौद्धिक जागरण हो चुका था। यह जागरण यदि कच्चा, विकृत रहता है तो आगे आनेवाली क्रांति भी सदीय बन जाती है। चेतना के भीतर की विकृतियाँ बाहर प्रतिबिम्बित होती हैं।

फिर से मार्क्स की बात लें। शायद यूरोप में जीवन का संदर्भ ऐसा था जिससे मार्क्स को ऐसा लगा कि जो किसान है, वह संगठित नहीं हो सकता। उसके सामने शोषण अन्याय का बीमत्स रूप घनीभूत होकर नहीं आता। इसलिए किसान को देहात से उठा कर शहरों में ले आएँ, वहाँ वे मजदूर बन कर कारखानों में कार्य करेंगे। शहर के जीवन में, आर्थिक व्यवस्था में और राज्य-व्यवस्था में जो आन्तर-विरोध है, वह बहुत स्पष्ट है। इसलिये मजदूरों का संगठन बनाना आसान है। क्रांति मजदूर द्वारा होगी। मजदूरों के संगठन शहरों में बनेंगे, यह मार्क्स का विचार था।

किसान द्वारा क्रांति हो सकती है, यह माओ-त्से-तुंग ने दिखाया । 'किसान एती में आसफ है, वह पुराण मतवादी है, इसलिए क्रांति नहीं कर सकता,' इ बात को माओ ने गलत सिद्ध किया । दक्षिण से उत्तर तक १९१२ से १९४१ तक जो चीन में अभियान चला, उसके इतिहास में उतरना यहाँ जरूरी नहीं । किसान को ही पहले शहर में लाया जाए, फिर उसमें वर्ग-भावना पैदा करके र्ग-संघर्ष की बात उठाई जाए । किसान द्वारा भी क्रांति संभव है, यह माओ ने न में सिद्ध कर दिखाया ।

यूरोप में जो समाज-व्यवस्था थी, उसमें यही जरूरी लगा होगा कि वर्ग-भावना जगाई जाए । धर्म के नाम पर दबने, कुचले जाने की जो मनोवृत्ति बन गई थी, उसे हटाने के लिए यह जरूरी लगा होगा कि पहले किसान को हर में लाकर वर्ग-भावना जगा कर फिर मजदूरों को वर्ग-संघर्ष के लिए तैयार किया जाए ।

आज मार्क्स के विचारों के अनेक अर्थ लगानेवाले हो गए हैं । रूस में ही टस्की, लेनिन, स्टालिन, झुद्चेव इत्यादि ने अलग-अलग अर्थ लगाए । युगोस्लाविया, में टोटो, जिंलास, बेकोस्लावाकिया में बुद्धेक, हंगेरी में अलग, चीन में क्य । सबने अपनी-अपनी दृष्टि से अर्थ लगाए ।

मार्क्स के दर्शन का योरोप के जीवन-संदर्भ के साथ सम्बन्ध रहा है । इसलिए उस संदर्भ की छाया उस दर्शन में पड़ी है । जिस पूंजीवाद के विरोध साम्यवाद शुरू हुआ, इसी को व्यवस्था और जीवन-दर्शन की प्रतिच्छाया साम्यवाद में पाई जाती है ।

साम्यवाद के दर्शन के विस्तार में जाना तो यहाँ संभव नहीं है पर उस र्ग, या तत्वज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती । साम्यवादी पक्ष धुरा है, उनके कार्यकर्ता बुरे हैं, यह कह कर कोई मार्क्स के विचारों को फेंक देंगे, हो नहीं सकता । मार्क्स के साथ ऐसा करने जाएंगे तो तो गांधी-माओ साथ भी फिर यही होगा ! मार्क्स का जीवन-दर्शन वर्ग-भावना के साथ गा हुआ है ।

वर्ग-भावना के साथ क्रोध, हिंसा, असूया कंसे जुड़ गई है ? नया समाज ाने के प्रेरक तत्व कहाँ से लायेगे ? दलित, श्रमिन् का शिक्षण, संस्कार के होगा ? केवल जीवन-दर्शन लेने से समाज में परिवर्तन नहीं आता है, क तत्व देने पड़ते हैं । यह बहुत बड़ा सवाल है । अन्याय करनेवाले के प्रति र्ग, असूया, क्रोध तो हिंसा को बढ़ावा देनेवाले ही हैं । "हिंसा करो" कहना

नहीं पड़ता है। जैसे ईश्वर के नाम से गरीब खुद दब जाता है उसे दबने के लिए पृथक् आदेश नहीं देना पड़ता, वैसे ही श्रमिकों में वर्ग-भावना जगाई जाय तो फिर शोषक को भी ये वर्ग के रूप में ही देखेंगे। स्वार्थों का संघर्ष जहाँ विचार के अधिष्ठान के रूप में आ जाता है वहाँ शोषक को, अन्याय करने वाले वर्ग को ही मिटाओ—ऐसी भावना उठने ही वाली है। ईर्ष्या, अमूया महत्वाकांक्षा, क्रोध को जगाना हिंसा को ओर ही ले जाता है। उससे अलग कोई परिणाम नहीं आ सकता।

१९४२ में इस देश में “भारत छोड़ो” आन्दोलन चला। बापू ने कहा था ‘करो या मरो’। बापू तो पकड़े गए। लेकिन बापू के चित्त में असीम धैर्य, शान्ति थी, विदेशी शासकों के प्रति द्वेष नहीं था। विदेशी सत्ता को वे शतानी सत्ता अवश्य कहते थे, लेकिन व्यक्ति के प्रति उन्हें द्वेष या घृणा जरा भी नहीं थी। उन्होंने ‘भारत छोड़ो’ का नारा दिया, “करो या मरो” कहा और हमने समझ लिया करो याने मारो। और फिर चारों ओर हिंसा, लूटफाट तोड़फोड़ का दौर चला हमारे अर्धर्य का पार नहीं रहा। बापू तो “स्वैर्यं हिमवानिव” थे। सागर की गभीरता, हिमालय की स्थिरता ले कर, बुद्धि में सूर्य की प्रखरता, हृदय में चन्द्र की शीतलता लेकर बापू काम करते थे, लेकिन हमने क्या किया? “करो या मरो” का अर्थ हमने अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार लगाया।

ईर्ष्या, द्वेष, कटुता, क्रोध लेकर १९४२ में जो आंदोलन हमने चलाया उसके परिणाम आज तक भुगत रहे हैं। आज क्या विद्यार्थी और क्या कर्मचारी सभी तोड़-फोड़, हिंसा पर उतर जाते हैं। हिंसा कटुता के बिना आज कोई भी आन्दोलन नहीं चलता। १९४२ के आन्दोलन में हमने हिंसा को एक प्रामाण्य दे डाला, आज विद्यार्थियों में हिंसा, अनुशासनहीनता का जो बोलबाला है, उसके बीज तो हमने ही बोये हैं।

पिछले २५ वर्षों में सत्ता हथिगाने के लिए क्या-क्या साधन हमने अपनाए। मन्त्रीमंडल कैसे चलाए और कैसे गिराए, इसे हमारे बालक देखते आए हैं। इसी लिए कोई कामकाज आज हिंसा के बिना होता नहीं है। ईर्ष्या, अमूया, क्रोध द्वेष को जगा कर क्रांति के नाम से जो काम हुआ, यह उसका अवशेष (hangover) है कि ये सब प्रेरक तत्व आदर पा गए हैं। जब तक ईर्ष्या, अमूया क्रोध हिंसा का समाज में प्रामाण्य है, तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि संसार में कोई भी आंदोलन शांति से चलेगा। हिंसा का यह प्रामाण्य दोनों पक्षों के लिए मानसिक रूप से अहितकर है।

बुनियादी बातों में आना चाहती हैं। नारी हैं, मां का हृदय है। सारे संसार में हिंसा की आग है। यह सब कुछ देख सुनकर पूरे संसार की मानव जाति और आधुनिक मानव की मनःस्थिति मेरे सामने खड़ी हो जाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी यदि यह मनोवृत्ति चलती है तो किसी देश की कोई व्यवस्था नहीं चल सकती।

यह सनातन, पुरातन भूमि है जिसके लिए रवीन्द्रनाथ ने कहा था—“प्रथम साम-रव तव तपोवने”। गांधी, विनोबा की तपस्या इसी भूमि में हुई है, यहाँ की अनादि अविच्छिन्न सन्त-परम्परा की ही वह कड़ी है। इसी लिये गत २५ वर्षों में, कागज पर ही सही, जनतन्त्र, लोकतन्त्र यहाँ जीवित रह सका है, देश की राजनैतिक अखण्डता किसी न किसी प्रकार बनी रही है।

हिंसा कहां से फूटती है, वह सोचना पड़ेगा। कार्ल मार्क्स को हिंसा अभिप्रेत थी या नहीं, यह झगड़ा भाष्यकारों पर छोड़ दें। उनके ग्रन्थ में वर्ग-माबना, वर्ग-संघर्ष की बात तो है ही। हिंसा की बात उन्होंने प्रकट रूप से नहीं कही है। लेकिन हिंसा का प्रामाण्य स्पष्ट रूप से रूस की अक्तूबर-क्रांति में आया। उस बात को ५० वर्ष हो चुके हैं, लेकिन अब तक पार्टी का शोधन (Purging) चलता ही है। कौन सुधारवादी है, कौन मार्क्सपुत है, कौन प्रतिक्रियावादी है, इसका विचार और चुन-चुन कर ऐसे व्यक्तियों को हटाना या मारना आज तक समाप्त नहीं हुआ है। क्रांति को सुदृढ़ बनाने (consolidation) के नाम पर यह चलता है। यह भी क्या सुधार हुआ कि अब अवाञ्छित व्यक्तियों को मारते नहीं, केवल हटा देते हैं ?

युगोस्लाविया में जिलास को 'The New Class' किताब क्यों लिखनी पड़ी ? पूँजीपतियों का वर्ग हटाने गए तो व्यवस्थापकों का एक नया वर्ग खड़ा हो गया। गरीबी, अमीरी हटाने गए तो यह तीसरा वर्ग खड़ा हो गया।

इस सन्दर्भ में प्रेरक तत्वों पर विचार करना पड़ेगा। हिंसा क्यों होती है, यह समझे बिना अहिंसा के उपदेश से काम नहीं चलेगा। हिंसा का या अहिंसा का आग्रह नहीं होना चाहिए, मध्यम मार्ग लेकर चलना होगा। क्या ये द्वेषमूलक प्रेरक तत्व अनिवार्य हैं ? इनके स्थान पर दूसरे तत्व आ सकते हैं क्या ? यदि इनके स्थान पर दूसरे प्रेरक तत्व नहीं आते तो मानव जाति का भविष्य क्या होगा ? ये सब प्रश्न गंभीर रूप से विचारणीय हैं।

वर्गविहीन समाज बनाने के लिए प्रेरक तत्वों में ही हिंसा के लिए उत्तेजक सामग्री पड़ी हुई है। एक यह है छिपा हुआ प्रबोधक तत्व।

किसान की लेकर क्रान्ति का पुष्यार्थ कैसे और कौन करेगा ? माओ ने मार्क्स के विचारों में क्या-क्या जोड़ा ? सारी अर्थ-व्यवस्था, अर्थनीति, राजनीति के लिए कुछ जोड़ा या नहीं, यह कल देखेंगे।

द्वितीय प्रवचन

१७-३-७३

सायं ५ बजे

समाजवाद की विचारधारा में महर्षि मार्क्स का अपना अद्वितीय स्थान रहा है। जो दलित, पीड़ित या शोषित वर्ग है, वह संगठित होकर अपने पुरुषार्थ से शोषण की अर्थ-व्यवस्था, अन्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था का अन्त करें, यह उनका सन्देश था। जहाँ शोषण की जड़ें पड़ी हैं, उनको हटा कर एक नई समाज-रचना, नई अर्थ-रचना का निर्माण करें। यह एक आत्मनिर्भरता और आत्माश्रयिता का सन्देश जो दलितों, पीड़ितों के मसीहा थे, द्रष्टा थे, उन्होंने दिया। उसमें दो-एक बातें आज और कहें और फिर एशिया में माओ ने कौन से कदम आगे बढ़ाए, इसका विचार करेंगे।

मार्क्स का विचार था कि उत्पादकों का समाज बनाने के लिए, केवल उपभोक्ताओं (Consumers) का नहीं, उत्पादकों (Producers) का समाज बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था लानी होगी जिसमें से अन्याय, शोषण के बीज हट जाएंगे। उत्पादकों का समाज बनाने के लिए उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में चले जाने चाहिए। जो उत्पादक नहीं हैं, उनके हाथ में उत्पादन के साधन न रहें। उत्पादन के साधन अनुत्पादक के हाथ में तब तक रहेंगे, जब तक वह उनका संग्रह करके उन पर प्रभुत्व, स्वामित्व जमा कर व्यापार करता है, तब तक शोषण का अन्त नहीं हो सकता। मार्क्स के विचार का एक महत्वपूर्ण अंग यह है। इस पर विचार करना जरूरी है।

जो श्रमिक हैं, उनके हाथ में उत्पादन के साधन रहने चाहिए या राज्य सरकार के हाथ में रहने चाहिए— इसका कोई संकेत, या ध्वनि या इंगित मार्क्स के विचार में दिखता नहीं है। अनुत्पादक के हाथ में उत्पादन के साधन नहीं रहने चाहिये, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में जो मध्यस्थ (Middle Man) की कड़ी है, उसे निकल जाना चाहिए, इत्यादि बातें मार्क्स ने कही हैं। यह विचार समाज में इससे पहले इतनी विषमता और स्पष्टता से रखा नहीं गया था। एशिया के संदर्भ में माओ-त्से-तुंग ने मार्क्स से आगे जो विचार प्रवृत्त किया उसका आज हमें अध्ययन करना है।

कल जो बात हमने देखी, उसके साथ आज की बातों को जोड़ना है, तब जाकर महात्मा गांधी का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्रांति में, जो योगदान है उसे हम देख सकेंगे।

पहली विशेष बात जो माओ ने एशिया के संदर्भ में देखी, वह यह है कि एशिया में औद्योगिक क्रांति इतने व्यापक प्रमाण में नहीं हुई है, जितनी यूरोप में हुई है। जनता का नागरीकरण, शहरों में उद्योग-घन्घों की व्यवस्था इतनी व्यापक नहीं हुई है कि मार्क्स के विचार के अनुसार श्रमिकों की वर्ग भावना या वर्ग-संघर्ष से क्रांति हो सके। चीन और अन्य देशों में आज भी कम से कम ७० प्रतिशत जनता देहातों में है और कृषि उनका मुख्य व्यवसाय है। वे खेती छोड़ कर उद्योग-घन्घों में जायें इसके लिए इतने बड़े-बड़े उद्योग-घन्घे पैदा करना संभव नहीं। केन्द्रित-उत्पादनवाले उद्योग-घन्घों की व्यापक व्यवस्था एशिया में नहीं हो सकती, और यदि किसान को उठाकर शहरों में ले जाकर श्रमिकों का एक वर्ग नहीं बनाते हैं, उनमें वर्ग-भावना नहीं भरती है, तो उन्हें वर्ग-विप्लव की ओर नहीं ले जा सकते। तो क्या एशिया में क्रांति नहीं होगी ?

यूरोप का पूरा जीवन-संदर्भ अलग था। वहाँ के देश अपने उद्योगों का स्तार करने के लिए साम्राज्यों का निर्माण कर रहे थे और केन्द्रित उत्पादन की व्यवस्था उनकी अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी थी। वही संदर्भ एशिया में नहीं था। वह संदर्भ यदि यहाँ खड़ा नहीं हो सकता तो क्या एशिया में भी अन्याय, शोषण, हिंसा आदि पड़े हैं, उन्हें हटाने के लिए क्रांति नहीं होकेगी? देहात में रहनेवाले कृषिकारों का भी तो शोषण है, तो क्या यहाँ क्रांति नहीं होगी? यह सवाल विचारकों के सामने था।

इसलिए माओ ने कदम उठाया कि क्रांति किसानों के मार्फत होगी। किसानों में क्रांति की प्रेरणा जगानी होगी। शहर के मजदूरों में क्रोध-व्यथाने की अपेक्षा यह काम कठिन था। जिन्होंने विनोबाजी के आन्दोलन में ग्रामदान, ग्रामदान का काम किया होगा, उनका अनुभव होगा कि किसानों में क्रांति की प्रेरणा जगाना, अन्याय के प्रतिकार की भावना जगाना, शोषण हो रहा है इसका मान जगाना बड़ा कठिन है। इस कठिन काम के लिए माओ और उनके साथी जुट गए।

बड़ा कठिन काम था। गांव-गांव में फँस जाना, घूमना, किसानों के पास क्रांति की बात रखना। इस के लिए जो कार्यकर्ताओं का दल या मुक्ति-फौज डी करनी पड़ी, उसमें जो आत्म-संयम का शिक्षण दिया गया, उसका इति-हास देखने योग्य है। कार्यकर्ताओं से कहा गया था कि एक सुई की भी उन्हें झुरत हो तो गांव वालों से न मांगे। 'हम क्रांति करा देंगे' यह कह कर शोषण का अन्त करने से पहले कार्यकर्ता नया शोषण ही शुरू न कर दें। इसके

लिए पूरी सावधानता रखी गई थी। कार्यकर्ता किसान की सेवा करने जा रहे हैं, उसे कुछ देने का उपकार करने नहीं, यह शिक्षा उन्हें दी गई थी। मुक्ति-फौज को अनेकों कष्ट सहने पड़े। वह बड़ी कठिन तपस्या थी।

इस प्रकार एक नया आयाम समाजवाद के विचार में आया कि किफाई की क्रांति का केन्द्रियव्यक्ति बनाया गया। बड़ी-बड़ी संस्था या संगठन हों उनमें नेतृत्व का स्वरूप अलग होता है। जिन्हें गांव में जाकर काम करना पड़ता है, उनका नेतृत्व अलग ढंग का होता है। उनमें आत्मसंयम की नैतिक शक्ति, त्याग की शक्ति बहुत अधिक चाहिए। सेवा की बुद्धि न हो तो काम करना कठिन है। जन-जागरण और प्रेरक तत्वों में गतिशीलता लाना-ये काम चीन की क्रांति के इतिहास में विलक्षण ढंग से हुए।

जो मार्क्स, माओ को नहीं समझेंगे, वे गांधी को नहीं समझ सकेंगे क्योंकि गांधी मार्क्स के बाद आए और माओ के स्रष्टाकालीन रहे। क्रांति के तत्त्व माओ के नए ढंग, पद्धति को समझने के लिए मार्क्स को समझना जरूरी है जो निष्पक्ष दृष्टि से देखेगा, वही भाषी के लिए उचित दर्शन कर सकेगा कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का स्वरूप माओ के काल में बदल गया। ऐसी भीषण गरीबी, ऐसा कुचला हुआ समाज! उसमें क्रांति के बीजों का बिस्फोट एक रोमहर्षक इतिहास है।

उत्पादन के साधन उत्पादक को दे देना चाहिए यह तो चीन में भी कहा था। लेकिन श्रमिक के स्थान पर किसान से वहां क्रांति कराई गई। एशिया के बाकी देशों के लिए यह उदाहरण बहुत प्रेरणादायी है।

पहले प्रेरक तत्वों की जो बात कही, वह बहुत महत्वपूर्ण है। अविचारधारा तो दे देंगे। लेकिन विचारधारा कितनी ही अच्छी हो, उसके बिना जो प्रेरक तत्व हैं, वे मनोविज्ञान के अनुकूल होने चाहिए। प्रेरक तत्व होने चाहिए जो मनुष्य की मानवता की क्षति न करें, जो उत्तेजना न बढ़ाए यह कोई धार्मिक, आध्यात्मिक दृष्टि भी नहीं, इसके बिना तो मानव मान नहीं रहता। जब उसमें प्रयोग होता है, तब वह मानव नहीं रह जाता।

जिस व्यक्ति में व्यक्तिगत और सामुदायिक रूप से आप प्रयोग को जगते हैं, उसमें आप ईर्ष्या, भय, क्रोध को जगा ही देते हैं। प्रेम में कोई नया कोई उत्तेजना नहीं है। लेकिन द्वेष और क्रोध में एक प्रकार का नशा होता और शराब के नशे की भांति द्वेष और क्रोध में संतुलन बिगड़ जाता है। प्रत्येक प्रकार एक पूरा असंतुलित समाज हम खड़ा कर देते हैं।

प्रेरक तत्वों का जीवन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। प्रेरक तत्व कितना और सामुदायिक रूप से लोगों में फैलाए जाते हैं। फैलाने वाले यह जिम्मेदारी है कि वह यह देखे कि अपमानित, उपेक्षित श्रमिक संतुलन की कमी तो है ही, अब समाज में क्रांति लाने के नाम पर यदि में ईर्ष्या, क्रोध को बढ़ाया जाय तो क्या होगा? ईर्ष्या, क्रोध तो हैं ही—खार में, समाज में, राजनैतिक पक्षों में, सर्वत्र। सामुदायिक द्वेष सामुदायिक क्रोध से सामुदायिक हिंसा आ ही जाती है। पहले उस्तेजना फैलाना र जनता से कहना कि शांति रखो, और शान्ति कायम करने के लिए पुलिस का को धुलाओ, यह कंसी बिडम्बना है! झड़काने वाला तो अलग निकलता है और जो उस्तेजित हो चुके हैं, संतुलन खो चुके हैं, उन पर दायित्व जाता है कि वे हिंसा न करें। यह कैसे संभव है?

जो प्रेरक तत्व युरोप में मार्क्स के अनुयायियों ने उपयोग में लिए, वही न में भी लाए गए। मेरा निवेदन यह है कि इन तत्वों से जो क्रांति हुई का निष्पन्न परीक्षण, अध्ययन होना चाहिए। जैसे आज शिक्षण के लिए शारों का, संस्कृतियों का आदान-प्रदान चलता है, एक दूसरे की संस्थाएं देखते हैं, एक दूसरे के विचार-आन्दोलन का परिचय पाते हैं, एक दूसरे धर्मों समझने की कोशिश करते हैं, वैसे ही हमें समग्र क्रांति के लिए प्रेरक शों का संशोधन करना होगा।

ऐसे कौन से तत्त्व हो सकते हैं जो उत्तेजित नहीं करेंगे, असंतुलित नहीं वे और समग्र क्रांति लाने की उत्कट निष्ठा जगाएँ? क्रांति करने के लिए संशोधन पहले करना पड़ेगा। चाहे समाजवादी हों, या गांधीवादी हों, वे को यह काम करना पड़ेगा। क्यों कि अभी अभी मानवजाति शोषण मुक्त नहीं है। शोषण का अन्त नहीं हुआ है, बहुत काम बाकी है। अफाका देशों में, मध्यपूर्व में, दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में जनता अभी शोषण पिस रही है। माओ आए और जाएँगे। गांधी आए और गए लेकिन यह न तो पड़ा ही है कि जो मानव शोषित है, उनके लिए क्रांति लानी तो है इन सुसभ्य-सुसंस्कृत रीति से, मानवता को बचाए रखते हुए, संतुलन को, स्कारिता को, सुरक्षित रखते हुए लानी है। यह कैसे किया जाएगा, हमारे सामने चुनौती है।

माओ ने किसानों में क्रांति की भावना जगाकर नया कदम उठाया अवश्य, तु वहाँ भी प्रेरक तत्व वही द्वेष, क्रोध के रहे। इस लिए रक्त रंजित क्रांति आई ऐसा किसी समुदाय की क्रूरता के कारण हुआ हो, ऐसी बात नहीं।

दो चीजें मुझे दिखती हैं एक तो यह कि प्रेरक तत्वों के संशोधन का कामान में रह गया, वैसे ही गुगोरलाविया, क्युबा, पूर्व युरोप के समाजवादी देशों में भी रह गया। लोकतन्त्रवाले देशों में तो रह ही गया है।

आज अमेरिका में जनता का कितना शोषण हो रहा है, उसकी कल्पना यहाँ गोहाटी में बैठकर नहीं आ सकती। आज वहाँ त्रिमूर्ति (Trinity) का शासन चलता है। पूंजीवादी संगठनों के गिने-चुने नायक, सेनाध्यक्ष और राजनैतिक सत्ताधारी—इन तीनों के हाथ में अर्थनीति, रणनीति, और राजनीति का बागडोर है। और यह त्रिमूर्ति मिलकर जनता का ऐसा शोषण करती है कि वह देश शीघ्र ही अराजकता की स्थिति में जानेवाला है। वहाँ की स्थिति दयनीय है इसकी कल्पना पता नहीं हमें है या नहीं?

लोकतन्त्रवादी देशों में भी इस चुनौती का मुकाबला करना है कि समाज-रचना, और अर्थनीति का परिवर्तन नये सुसंस्कृत प्रेरक तत्व लाकर कैसे करेंगे अभी हमने देखा न कि डालर का अवमूल्यन (Devaluation) होने पर युरो में कितने दिनों तक, पूरा व्यापार और मुद्रा-विनिर्योग ठप रह गया था और वह जाने को तैयारी में था। सारी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है।

शोषण तो सभी जगह हो रहा है। फिर वह तथाकथित लोकतन्त्रवादी देश हों या एकसत्तावादी। उसका अन्त तो करना ही है। और जिनका शोषण हो रहा है, उनके ही पुरुषार्थ से करना है। उन्हें प्रेरित तो किया जाय लेकिन उत्तेजित न किया जाय। उन्हें शिक्षित, असन्तुलित न बनाया जाय, उनकी ईर्ष्या, लालसा, महत्वाकांक्षा को न जगाया जाय। यह कैसे हो इसी का संशोधन करना है।

लालसा जब जागती है, तो फिर वह शोषकों को हटा कर ही धान नहीं होती। जब सत्ता हाथ में आ जाती है तो सफल क्रांतिकारी ही प्रति-क्रियावादी और प्रतिगामी बन सकते हैं, बन जाते हैं। यह वस्तुस्थिति हम अनेक देशों में देखते हैं। दूसरे देशों को देखकर हमें पाठ सीखना है। वहाँ प्रेरक शक्ति का संशोधन नहीं हुआ, एक दिशा में कदम आगे बढ़ा, लेकिन जो प्रेरक तत्वों का मनोविज्ञान है, उसका संशोधन नहीं हुआ। वह बाकी है और उसे करना ही पड़ेगा।

दूसरी बात। राज्य की, राष्ट्र की, देश की, वर्ण की, बंध की जितनी दीवारें हैं उन सब को हटाकर श्रमिक एक हो जाएं, मानवमान जागृत हों, सब एक हो जाएं, ऐसा मार्क्स का विचार था। लेकिन जैसे-जैसे क्रांति सफल होने लगी, वैसे-वैसे झगड़े उठने लगे। क्रांतिकारी समुदायों ने यह सोचना

किया कि सफल क्रांति का रूप सबसे पहले हम दिखा देंगे। पहले क्रांति ने संसार भर में फैलाएँ, या पहले अपने देश में फैलाएँ, यह बहुत बड़ा सवाल। रूस और चीन के बीच रहा। रूस में लेनिन और ट्राट्स्की के बीच भी रहा। अखण्ड दृष्टि मार्क्स में, लेनिन में या माओ में देखने को नहीं मिलती। जब दीवारों को लांघ कर ऊपर उठने की उन की पुकार थी। उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीयता लगभग एक धर्म-सा बन गया था, क्रांति का जो विचार होगा वह सारे संसार के लिए होगा। ऐसी शुरू-शुरू में भावना थी। लेकिन जैसे-जैसे क्रांति सफल होने लगी तो ऐसा लगने लगा कि पहले इस देश में काम को सुव्यवस्थित (Consolidated) कर लिया जाए, पहले एक देश में चरम विकास हो जाए, तब फिर दूसरे देशों की बात सोची जाएगी। पहले सफल क्रांति को सुव्यवस्थित रूप देना (Consolidation) या लोकशिक्षण पहले करना यह मतभेद चीन, रूस, युगोस्लाविया में उठा।

चीन की बात बहुत जोर से नहीं कह सकती, क्योंकि वहाँ स्वयं गई हैं। मैं प्रकाशित साहित्य से और जो लोग वहाँ गए हैं उससे जानकारी पाई है। लेकिन युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया तो गई हैं, वहाँ के विचारकों, क्रांतिकारियों से मिली हुई हैं। युगोस्लाविया में टोटो और रूस के लुप्शेव में भी मतभेद रहा कि पहले अपने देश की क्रांति को व्यवस्थित-सुदृढ़ बनाएं जब सारी मानव जाति का विचार करें।

इस प्रकार क्रांति का विचार धीरे-धीरे राष्ट्रनिष्ठ होने लगा। आगे बढ़कर जब गांधी-विनोबा ने क्रांति का नया विचार किया, तब उन में अन्वेषण तो था, लेकिन राष्ट्रनिष्ठा नहीं थी गांधीजी का कहना था कि मैं भारत में जन्मा हूँ तो भारत की स्वतन्त्रता के लिए कोशिश करता हूँ। लेकिन अगर भारत की स्वतन्त्रता हिंसा से आती हो तो वह मुझे नहीं चाहिए, क्योंकि फिर भारत के पास दूसरे पराधीन देशों को सिखाने के लिए कुछ नहीं रहेगा। वह लोकशिक्षण की बात सारे संसार के गरीबों के लिए थी, उसके पीछे राष्ट्र-निष्ठा नहीं थी। गांधीजी के विचारों को राष्ट्र, धर्म, राज्य बांध नहीं सकता था, लेकिन आगे चलकर गांधीजी के अनुयायी राष्ट्रनिष्ठ बने।

सत्ताधारी कांग्रेस का पक्ष हो या सत्ता से बाहर सर्वोदय का पक्ष हो... दोनों के लिए राष्ट्रनिष्ठा बाधक नहीं। मार्क्स, माओ, गांधी, तीनों के अनुयायियों के लिए यही बाधा रही। जो दशान सारे संसार के लिए शुरू होता है उसे जब अमल में लाने जाते हैं तो वह सारे संसार से अलग होकर एक जगह कँद हो जाता है! चीन और रूस के बीच का तनाव केवल मंगोलिया

की सीमा को लेकर नहीं है, बल्कि, तनाव का कारण यह है कि समाजवादी देशों का नेतृत्व कौन करेगा, किसका किया हुआ मार्क्स का भाष्य प्रमाण माना जायेगा, मार्क्स के प्रति अधिक वफादार कौन माना जायेगा इत्यादि। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति सन्देह, तनाव उठते रहते हैं। क्रांतिकारी क्या राष्ट्रनिष्ठ हो सकते हैं? राष्ट्रनिष्ठ व्यक्ति क्या मानवनिष्ठ हो सकते हैं? यह एक बड़ा प्रश्न अनुत्तरित रह गया है।

पारमिक अन्धश्रद्धा के खिलाफ लोग जोर-शोर से बोलते हैं, लेकिन राजनैतिक अन्धश्रद्धा के खिलाफ कोई नहीं बोलता। कोई उसका भण्डाफोड़ नहीं करता। कोई यह प्रश्न नहीं उठाता कि राष्ट्रनिष्ठा का अन्तर्राष्ट्रीयता में वास्तविक स्थान है या नहीं। कोई इस बारे में आवाज नहीं उठाता, क्या कि अपने-अपने देश में छोटे-छोटे नेतृत्व लेने की आकांक्षा क्रांतिकारियों में भी बनी हुई रहती है। चले हैं शोषण का अन्त करने, लेकिन कभी बैठकर देखते नहीं कि हमारे अपने भीतर शोषण का अन्त हुआ है या नहीं, संपत्ति-संग्रह की लालसा का अन्त हुआ है या नहीं? दलितों, शोषकों की मदद करने चले आते हैं, पर उनकी अपनी चित्तवृत्ति यदि सत्ता की आकांक्षा के दलदल में फंसी है तो उन्हें एक शोषक वर्ग के हाथ से छुड़ाएंगे और खुद ही नया शोषक वर्ग बन जाएंगे। नया नकाब खड़ा हो जाता है शोषण के लिए। इस प्रकार गोषित की मुक्ति तो होती ही नहीं। मार्क्स, माओ, गांधी तीनों मुक्तिदाता ही थे, लेकिन शोषण का अन्त न रूस में हुआ, न चीन में, न भारत में और राष्ट्रनिष्ठा तीनों देशों में आई ही।

इन तीन मुक्तिदाताओं के बाद क्या? यानी क्या काम होना बाकी है? क्रांति के बारे में अन्तिम बात न अब तक कही गई है, न कभी कही जा पाएगी। प्रेरक तत्त्वों के लिए संशोधन करने का काम होना बाकी है। मनुष्य की अवनति किए बिना आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन के प्रेरक तत्त्व उपलब्ध करा देना—यह काम अभी होना है।

हिंसा—अहिंसा की बात छोड़ दें। लेकिन एक दूसरे की हत्या मानव को छोड़ कर कोई प्राणी नहीं करता। क्रांति का साधन क्या हत्या ही है? इसका संशोधन और क्रांति के मुसकृत साधनों की खोज चुनौती है। वैसे ही, क्रांति का मसीहा राष्ट्रनिष्ठ नहीं हो सकता। वैश्विक मानव जाति से कम की बात वह सोच ही नहीं सकता। आज जो भाषा चीन के नेता रूस के खिलाफ या रूस के नेता हंगेरी के खिलाफ बोलते हैं, युगोस्लाविया से थोड़ी दोस्ती कर ली है, पर समाजवादी पक्षों में जो तनाव है, वह इसी राष्ट्रनिष्ठा के कारण है

गांधी, विनोबा या माक्स-माओ के विचारों को लेकर जो राष्ट्रनिष्ठा से चलेंगे, वे कभी सफल नहीं हो सकते, क्योंकि उन मुक्तिदाताओं के विचार राष्ट्रनिष्ठा नहीं हैं। राष्ट्रनिष्ठा का लालसा से सम्बन्ध है, संघर्ष से सम्बन्ध है। शोषक के हाथ से सूत्र ले लिए, लेकिन वही सूत्र अपनी पार्टी के पास अपने राज्य के पास रख लिए तो पार्टी में भी जिसके हाथ में पुलिस सेना है, वह सत्ता ले लेगा। इसलिए इसे दबाओ, उसे हटाओ, यह क्रम चलता ही रहता है।

जहाँ क्रांतियाँ सफल हुई हैं या होने की राह पर हैं, (जैसे मध्य-पूर्व में) वहाँ का इतिहास देख लें। पिछले दस वर्ष का ही इतिहास देखें तो सत्ता की लालसा, व्यक्तिगत और समुदाय में खूब पनपी है। भारत में ही देख लें। समाजवाद व सर्वोपेय की बात करनेवाले व्यक्तियों की, सत्ता हाथ में आने के बाद जो हालत है, वह हम देख ही रहे हैं।

मानवनिष्ठा की बात छोड़ दें। अभी तो राष्ट्रीय पक्ष कहलाने लायक पक्ष (Party) भी हमारे पास नहीं है। छोटे-छोटे समुदाय के, वर्ग के, भाषा के नाम पर व्यक्तिनिष्ठा, बफादारी है। सत्ता की लालसा छोटे से छोटा क्षेत्र खोज लेती है। सेवा को दृष्टि विस्तार खोजती है। "यद् वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति"। जो "भूमा" है, विराट् है, वह सुखमय है, अल्प में सुख नहीं है। यह तो सेवा की बात है। सत्ता खोजती है छोटे से छोटा क्षेत्र जहाँ विजय सुलभ हो जाए।

मानवनिष्ठा राष्ट्रनिष्ठा से दूषित हो गई है। राष्ट्रनिष्ठा का 'ग्रहण' रूस, चीन में तो लगा ही है, भारत में भी लग गया है। गांधीजी के अनुयायियों में यह ग्रहण लग गया। इस ग्रहण से सब क्रांतियाँ प्रसित हो गईं। यह ग्रहण छुड़ाना अभी बाकी है। विषय अत्यंत व्यापक है। केवल मुख्य-मुख्य बातें करती हूँ।

माओ का एक और विशेष योगदान यह है कि जैसे किसान को गांव से उठा कर शहर में ले जाने पर उनका जोर नहीं, वैसे ही क्रांति के बाद उद्योग-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था को केन्द्रित करने की ओर भी उनका विशेष झुकाव नहीं था। उत्पादन के केन्द्रीकरण को उन्होंने अनिवार्य नहीं माना। अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने का उनका एक अपना दर्शन रहा है। गांवों में वे उद्योग-बंधे ले गए।

'आगे की महान छलांग' (The great leap forward) क्यों असफल रही, इसकी पूरी मीमांसा आज यहाँ नहीं की जा सकती चीन में माओ और उनके साथियों के हाथों जो पुरुषार्थ हो गये हैं, उसे जो लोग नहीं

देखते, वे हंसते हैं, मजाक करते हैं। लेकिन उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र (Units) गांव में बनाने की कोशिश, कृषि-केन्द्रित उद्योग-व्यवस्था बनाने की कोशिश पूरी सफल भले न हो पाई हो, क्रांति के इतिहास में उसका अपना स्थान तो है ही।

पश्चिम के पूंजीवादी और तथाकथित लोकतन्त्रवादी देशों में एक पागल होड़ चली कि मनुष्य को हटाकर उसका स्थान यंत्र को दिया जाय, उत्पादन बढ़ाया जाय, राष्ट्र की औसत व्यक्तिगत आय बढ़ाई जाय, जीवनस्तर ऊंचा उठाया जाय, और उसके लिए पागल दौड़ में शामिल हुआ जाय इस सारे अविवेक का शिकार एशिया भी हो गया। लेकिन माओ के नेतृत्व में चीन की दृढ़ नीति रही कि हम दूसरे देशों से भीख मांग कर केन्द्रित उद्योग-धंधे नहीं लाएंगे, क्योंकि जहाँ अधिक सत्ता केन्द्रित हो जाएगी वहाँ राज्य-सत्ता विकेन्द्रित नहीं रह सकती।

इस प्रकार माओ ने एक बहुत बड़ा सत्य देखा। इस लिए उन्हें कम्पून बनाने पड़े। एशिया-अफ्रीका के देशों के लिए सीखने की बात है। श्रमाधारित संयोजन छोड़ कर श्रमाधारित केन्द्रित उद्योग-व्यवस्था का जो प्रलम्भन है, जिसमें भारत सरकार १९४७ से फंसी है, उससे और देशों को बचना चाहिए। यहाँ चार पंच-वर्षीय योजना हो गईं। सारी दुनिया से भीख मांग कर पैसा लाए। फिर भी रिपोर्ट में लिखा गया है कि गरीब और अमीर के बीच की खाई बड़ी है, घटी नहीं। कुल राष्ट्रीय आय बढ़ी है, लेकिन औसत व्यक्तिगत आय नहीं बढ़ी। गरीबी, अमीरी का अन्तर नहीं मिट सका! हम असफल रहे हैं। ग्राम के लोगों की उत्पादन-शक्ति हम नहीं बढ़ा सके, यह हमारी बहुत बड़ी असफलता है।

चीन में माओ ने प्रयोग किए, मनुष्य-बल को गतिशील बनाने के मार्ग खोजे और आत्मनिर्भर रहकर अपना उत्पादन बढ़ाया, व्यक्तिगत, राष्ट्रगत आय बढ़ाई। युरोप के देश तो आश्चर्य में पड़ गए कि चीन ने इतनी जल्दी इतनी प्रगति कैसे कर ली। आणविक-शक्ति-सम्पन्न वह कैसे बना? किसी देश से भीख नहीं मांगी, तो यह सब कैसे हुआ?

पूंजीवादी देशों के सब काम, सब संयोजन घनाश्रित होते हैं। माओ ने क्रांति के दौरान में और क्रांति के बाद भी एक नया आयाम जोड़ दिया और पूरा संयोजन श्रमाधारित किया। श्रम को प्रतिष्ठित किया।

व्यक्ति का सम्मान, और व्यक्ति के अधिकार की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। गांधीजी ने इस पर जो जोर दिया है वह अब हम समझ पायेंगे।

शरीरश्रम का महत्त्व भी उन्होंने प्रतिष्ठित किया। १९३५ के आसपास उन्होंने ने नारा दिया था "गांव में चलो" ! "दिल्ली चलो" नहीं कहा। किसान इस देश का मेरुदण्ड "राजहारा" (रीढ़ की हड्डी) है। उसका आत्मसम्मान नहीं बनेगा तो यह देश की कमी आगे नहीं बढ़ सकेगा। किसान जागृत नहीं होगा तो यह देश प्रगति नहीं कर सकेगा। इस दृष्टि से गांधीजी का सारा रचनात्मक कार्यक्रम एक नया विज्ञान था। नया आयाग था। लोकतन्त्र के लिए नया अविच्छान ना। लेकिन हम तो, राजनीति-शास्त्र के लिए लासकी को प्रमाण मानते हैं। इस मिट्टी में समाजवाद का स्वरूप कैसा होगा, यहाँ साम्यवाद कैसे आएगा, इसका जो चिन्तन हुआ है, उसे हमने गंभीरता से कभी देखा है ?

एशिया के संदर्भ में दो व्यक्तियों का माओ और गांधी का चिन्तन हमने आज कुछ देखा और कल भी देखेंगे। अर्थ-व्यवस्था और किसी हद तक शासन व्यवस्था चीन में भी विकेन्द्रित है। शासन-व्यवस्था के पूरे विकेन्द्रीकरण तक पहुँचना अभी भी बाकी है, लेकिन कम से कम मनुष्यबल का उपयोग करके मनुष्य के परिश्रम की शान बढ़ाकर, श्रमिक का आत्म-सम्मान बढ़ा कर, सम्पन्नता की व्यवस्था का निर्माण—ये जो दो अविच्छान लोकतन्त्र के होने चाहिएँ, उनका दर्शन माओ के पास है, इतना ही निवेदन है। चीन में वे कितना कर पाए, कितना नहीं कर पाए, इसमें मैं नहीं जाऊंगी।

गांधीजी को हमने नहीं समझा। हमने समझा गांधी मर गए। लेकिन मार्टिन लूथर किंग नाम का जवान अभी-अभी हो गया जिसके कमरे में गांधी के चित्र और किताबें ही प्रमुख रूप से थीं। जो गांधी को अपना आध्यात्मिक पिता कहता था। "ईसा को हमने गांधी के माध्यम से समझा" ऐसा कहनेवाले लोग यूरोप में मुझे मिले। "बाइबल को समझने में जितनी मदद गांधीजी के जीवन और ग्रंथों से मिली, उतनी किसी से नहीं," ऐसा कहने वाले भी कितने ही हैं। गांधी यहाँ मर गए, लेकिन वहाँ कैसे खड़े हो गए ? बेकोस्लोवाकिया में कैसे दस दिन तक शांतिपूर्ण प्रतिरोध के गांधी के मार्ग पर पूरा देश खड़ा रहा !

माओ की विचारधारा चीन में ही सफल होगी ऐसी बात नहीं है। गांधी जी ने जो कहा था, वह भारत के ही लोग समझेंगे और भारत में ही सफल होगा, ऐसी बात भी नहीं। वे जो दे गये हैं, वह सारी मानव जाति की सम्पत्ति है।

ईसा का 'सर्भन ऑन द माउन्ट' (शिल्लर-उपदेश) सुन कर आज के अर्थशास्त्री तो यही कहेंगे कि ईसा को अर्थशास्त्र का कहां कुछ ज्ञान था ?

गांधी के विषय में उनके साधियों ने यही कहा था कि उन्हें कहां आधुनिक अर्थशास्त्र का ज्ञान था ? कहना यह चाहती हूँ कि मार्क्स के विचार के अनुरूप चीन कितना सफल हुआ, या मार्क्स को रूस में कितना समझा गया। यह सब विचार यहां अप्रासंगिक है। अनुयायियों के दोष या गुण ब्रष्टा पर लादने जाय तो मुश्किल हो जायेगी। नियति महापुरुषों को उनके अनुयायियों के रूप में ही तो दण्ड देती है ! अनुयायियों की त्रुटियों से ब्रष्टा के दर्शन का नापतौल नहीं लगाया जा सकता।

अप्रामाणिक उद्योग-व्यवस्था, विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था का दर्शन एशिया अफ्रीका के देशों के लिए नया परिमाण, नया आयाम है। प्रेरक बल क्रोध, ड्रेप, हिंसा के जो रूस में रहे वही चीन में भी रहे। वहां भी मानव की अवनति हो गई। किन्तु गांधीजी ने साधन-साध्य की शुद्धि की बात उठाकर प्रेरक तत्वों में ही क्रांति लाकर साधन व प्रेरक बल का ही अभ्यात्मीकरण कर दिया, यह कल देखेंगे।

तृतीय प्रवचन

१८-३-७३

सामं ५ बजे

उत्तीसवीं और बीसवीं शताब्दी के मानव के मुक्तिदाता के रूप में जो मनीषी आए, जो क्रान्तदर्शी दृष्टा आए, जिन्होंने मानव-मात्र के हित की अभ्युदय की बात सोची, क्रांति का तत्त्व और विज्ञान समाज के सामने रखा, उन में से महर्षि मार्क्स और माओ का विचार अत्यन्त संक्षेप में देखने का हमने प्रयत्न किया। उनके जीवन-दर्शन व कार्यपद्धति को दो दिन में देखने का प्रयत्न गागर में सागर भरने जैसा है। कोई व्यापक या समग्र अध्ययन आप के सामने इतने समय में रखना असंभव है। तीसरे मुक्तिदाता गांधी इस धरती में पैदा हुए। बहुतां ने उन्हें देखा होगा। उनको वाणी साक्षात् सुनी होगी। ऐसे मनीषियों का जन्म किसी एक जाति धर्म, देश, वेष में होने पर भी उनकी दृष्टि सीमित नहीं होती। उनका जीवन-दर्शन कभी संकीर्ण, सीमाबद्ध नहीं होता। निःशुल्क मानवजाति उनके सामने खड़ी होती है। जीवन की समग्रता को एक नजर में रखकर देखने की शक्ति उन में होती है ऐसे मनीषी, क्रांतिकारियों में अग्रणी गांधी को लोगों ने भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी नेता के रूप में देखा। मैं न कभी उनके स्वतंत्रता संग्राम में शामिल हुई, और न कभी उनके आश्रम में रही। स्वतंत्र चिन्तन अध्ययन का अवसर अवश्य मिला, ग्रंथों द्वारा उन्हें देखा।

मानवता की प्रतिष्ठा, मानवीय कृत्स्नों की प्रतिष्ठा उनका मूलभूत कार्य था। राजनैतिक स्वाधीनता के नेता, युग निर्माता तो वे ही, साथ ही ऐसे तन्त्र और विज्ञान के आविष्कार में प्रयत्नशील थे कि जिसमें मानव गिरना नहीं सामुदायिक रूप से भी नहीं और व्यक्तिगत भी नहीं। साधन और साध्य भिन्न नहीं है। साध्य तो साधनों का ही विकसित रूप है। साधन जैसे-जैसे शुद्ध होते हैं वैसे-वैसे साध्य खिल कर सामने आता है। साधन की शुद्धि साध्य-शुद्धि लिए अनिवार्य है।

गांधीजी का यह विचार देखने में धर्मोपदेश (Moral concept) जैसा लगता है, लेकिन ऐसी शुद्ध व्यावहारिक बात अन्यत्र दुर्लभ है। हम अच्छी फसल चाहते हों तो बीज अक्षत, अखण्ड होना चाहिए।

यदि क्रांतिकारी ही छिन्न-विच्छिन्न होगा तो नए मानवसमाज का निर्माण कहाँ से होगा? क्यों कि वह तो नए समाज का बीज रूप है। बीज ऐसा चाहिए जो शुद्ध, अखण्डित, अविच्छिन्न हो। इस प्रकार क्रांति के तन्त्र और विज्ञान में एक नया आयाम गांधीजी ने जोड़ दिया।

साध्य के औचित्य में ही साधनों का औचित्य समाविष्ट है (The end Justifies the means) "धेन केन प्रकारेण, कोई भी प्रेरक तत्व ले लो, और सफल हो जाओ, बस साध्य ठीक होना चाहिए" इस प्रचलित विचार के बारे में बड़ा गम्भीर प्रश्न गांधी ने खड़ा कर दिया। क्रांति की सफलता की नापतौल आंकड़ों से लगायी जाएगी? व्यक्ति का अधःपतन हुआ या अभ्युत्थान? नवनिर्माण के लिए क्रांतिकारी के जीवन में कोई अधिष्ठान है या नहीं? यह मौलिक प्रश्न उन्होंने ने उठाया।

ब्रिटिश सत्ता को हटाना गांधी के काम का निषेधात्मक (Negative) अंग है। लेकिन विधायक या सर्जनात्मक (positive) बात तो यह है कि ब्रिटिश सत्ता के हट जाने के बाद देश का नव-निर्माण कैसे होगा, इस के लिए उन्होंने ने मौलिक चिन्तन कर के तन्त्र और विज्ञान का सर्जन किया था। १९२० में गांधीजी ने जो कार्यक्रम बेश के सामने रखा यह किसी की समझ में नहीं आया था। खादी का, हरिजन-सेवा का, चर्खे का, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है, यह किसी की समझ में नहीं आता था। राजनैतिक जीवन का अध्यात्मीकरण भी लोगों की समझ के बाहर था। लोग कहते थे, यह कैसा आदमी है? यह कोई नहीं सोचता था कि जो आज तक नहीं हुआ है उसे घटित करने ही तो महा-मानव आते हैं।

ईर्ष्या-व्रेष, क्रोध के द्वारा यदि श्रमिक, पीड़ित, दलित को आज के शोषक के हाथ से मुक्त करा दिया तो क्या प्ररोसा है कि मुक्ति दिलानेवाला ही नया शोषक या शासक नहीं बन जायगा? कोई आश्वासन है? कोई आश्वासन नहीं है, यह हम इस तथा दूसरे देशों में देख चुके हैं। एक नया व्यवस्थापक वर्ग (Managerial class) कैसे खड़ा हो जाता है, इस का वर्णन युगोस्लाविया के जिलास ने नया वर्ग (The new class) नामक ग्रंथ में किया है। पुराने शोषक वर्ग मिट कर नए बनते गए। यह नया वर्ग इतना सूक्ष्म था कि श्रमिकों को तत्काल ध्यान में नहीं आया कि यह शोषण की नयी पद्धति, नया तन्त्र खड़ा हो रहा है।

गांधीजी ने एक बहुत बड़ी नई बात कही। दलितों के संगठन में से क्रांति हो, गरीबी-अमीरी भगवान की बनाई नहीं है, यहाँ तक की बात तो मार्क्स कह चुके थे। गांधी जी उसमें एक नई गतिशीलता (dynamism) लाए। सब लोग हँसते थे कि गांधी जी साध्य-साधन विचार क्यों रखते हैं? आत्मसुद्धि, आत्मशोधन की बात क्या करते हैं? श्रमिक, शोषित, को मुक्ति

दिलाना और आज का क्रांतिकारी कल प्रतिगामी न बने, ये दोनों बातें सच सके, इसलिए गांधीजी ने यह मौलिक लोकशिक्षण का काम उठाया ।

उन्होंने जो दूसरा आयाज जोड़ा वह भी गंभीरता से सोचने की बात है । वह भारतीय संस्कृति की अनूठी, अपूर्व देन है । भारतीय संस्कृति में भगवान और शैतान (God and devil) ये दो सत्ताएं कभी नहीं मानी गईं । यह कमा नहीं माना गया कि कोई व्यक्ति शत प्रतिशत दुष्ट या दुर्जन है या कोई २४ घण्टे सज्जन ही बना रहता है । ईसाई धर्म में भलाई और बुराई (Good and evil) ये दो सत्ताएं अलग मानी गईं । देव और शैतान की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई ।

भारतीय संस्कृति की बात करते समय मेरे सामने वेद, उपनिषद, गीता षड्दर्शन तक की बात है । पुराणों की नहीं कह रही हूँ । जनसाधारण को समझाने के लिए पुरोहित वर्ग क्या-क्या जोड़ देता है, उसे तो अलग रखना पड़ेगा । सभी मौलिक तत्व तक पहुँच पाएंगे । नहीं तो मौलिक बात भी खो जायेगी ।

तो भारतीय संस्कृति में एक ही सत्ता मानी गई है । द्विस्तवावाद कभी नहीं माना गया । अणु-रेणु में ओतप्रोत एक चैतन्य की सत्ता मानी गई है । उसे ईश्वर, आत्मा, परमात्मा या विश्व-चेतना कोई भी नाम दीजिए । लेकिन जितना व्यक्त जगत् है, उसमें ओतप्रोत एक ही सत्ता है । मनुष्य के हृदय में उसी सत्य, शिव, सुन्दर के लिए आकर्षण और ऊर्ध्व आरोहण की आकांक्षा है ।

भारतीय संस्कृति की इस विशेषता के कारण गांधी ने यह प्रश्न उठाया कि यह कैसे कहा जा सकता है कि शोषकों का कोई वर्ग है और वर्ग-द्वेष के आधार पर उस वर्ग से हम अपने-आप को मुक्त क्यों समझते हैं । शोषण या अन्याय की क्षमता आज के शोषक सत्ताधारी में ही है । ऐसी बात थोड़े ही है ? क्या हम और आप शोषण नहीं करते ? शोषण की जड़ें कहाँ हैं ? क्या समाज के किसी वर्ग-विषेय में है या मनुष्यमात्र के चित्त में ? क्रांतिकारों के चित्त में क्या हिंसा, शोषण की जड़ें नहीं हैं ।

चिन्ता में डालने वाला प्रश्न है । निर्दोष श्रृजुता से गांधीजी ने पूछा कि शोषण की जड़ें हैं कहाँ ? वर्ग केवल समाज रचना में से ही बनते हैं या हम सबके भीतर पड़े हुए हैं ? क्या हम तुम शोषक, हिंसक नहीं हैं ? किसी को यह सवाल अच्छा नहीं लगा ।

कुटुम्ब में भी भावनात्मक, वैचारिक शोषण होता है—नीकर का, मित्र का, सन्तान का इत्यादि। शिक्षक भी विद्यार्थी का शोषण करते हैं। तो फिर शोषक वर्ग कहीं है? शोषक और शोषित की सीमा-रेखा कहीं है? क्या वह कहा जा सकता है कि इतने शोषित हैं और इतने शोषक हैं! गरीब के मन में क्या अमीर होने की, कम धन से अधिक पाने की इच्छा नहीं है? गांधीजी ने स्पष्ट कर दिया कि वर्गविहीन समाज चाहते हो तो पहले तुम्हारे जीवन में हिंसा की जड़ों का निराकरण करो। गांधीजी ने अहिंसा, सत्य अस्त्येय आदि जीवन-व्रत दिए। वे धार्मिक व्यक्ति थे। भाषा पुरानों ले लो और आशय या क्रांतिकारी। यह कठिनाई उनकी सारी बाणी में पाई जाती है। कहीं जैन परिभाषा ले ली, कहीं पुरातन शब्दावली ली है। पुराने संगठित (organised) धर्मों की भाषा के कारण काफी गलतफहमियाँ हुईं। इस प्रकार गांधीजी ने बहुत जोर देकर कहा कि शोषण की जड़ें समाज-रचना में नहीं, प्रत्येक मनुष्य में पड़ी हैं। वहाँ से उन्हें उखाड़ना पड़ेगा। शोषण की जड़ों को जब तक नहीं हटाते, तब तक समाज शोषण-मुक्त नहीं बनेगा।

द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर को भड़काना गांधी ने कभी ठीक नहीं समझा उन्हें प्रेरक बल नहीं माना। इस प्रकार उत्तेजित करने का रास्ता देखने में भले ही छोटा हों (Short cut) लेकिन श्रमिक की, समाज की और पूरी मानव जाति की उन्नति में हानि है। इसी लिए उन्होंने ने कहा कि हिंसा से आने वाला स्वराज्य भी नहीं चाहिए और हिंसा से देश का नवनिर्माण भी नहीं चाहिए। बुनियादी तालीम की जो बात गांधीजी ने सोची थी, वह यह थी कि एक ओर से किसान का उत्थान होगा साथ ही जागरण के साथ-साथ उसका पूरा दृष्टिकोण बदलेगा।

कृषि-उद्योग, कृषि-केन्द्रित कृषि-आधारित, उद्योग-व्यवस्था उन्हें अभीष्ट थी। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में यन्त्र का उपयोग न मात्रों के लिए निषिद्ध था, न गांधी के लिए। गांधी को लोग भूल से यन्त्र-विज्ञान का विरोधी समझते हैं। उन्होंने भी उस समय की परिस्थिति के अनुसार साधन दिए थे। औद्योगिक क्रांति का नष्टना वे यूरोप से उधार नहीं लेना चाहते थे। एशिया का भूमि-मनुष्य अनुपात (Land-man-ratio) यूरोप अमेरिका के अनुपात से भिन्न है। इसलिए वहाँ की नकल यहाँ नहीं चल सकती, यहाँ मनुष्य-बल और पशु-बल विपुल है। यहाँ मनुष्यबल के स्थान पर यन्त्र को लाना बेकारी को बढ़ाना है। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था ही देश के अनुकूल है—इत्यादि विचार उन्होंने नाना प्रकार से अभिव्यक्त किए।

केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरण—यह विद्वानों की सनक का प्रदन नहीं है। एशिया, अफ्रीका के लिए औद्योगिक क्रांति का एक नया नमूना अपेक्षित है। छोटे उद्योग, कुटीर-उद्योग, ग्रामोद्योग का एक नया दर्शन गांधी जी के पास था। गतवर्ष स्ट्राकहोम में जो संदूषण-विरोधी परिषद हुई थी, उस में यह कहा गया था कि जिस गति से बिजली का उपयोग हो रहा है और जिस गति से यन्त्रों के उपयोग से हवा, पानी दूषित हो रहे हैं, उसे देखते हुए यह धोर चिन्ता की बात है कि बिजली का उत्पादन अधिक दिन नहीं चल सकेगा और दूषित वायु जल के कारण यह पृथ्वी प्राणियों के जीवन-धारण के लिए अयोग्य हो जायेगी।

आस्ट्रेलिया में 'नया युग और नई जाति' (New age and new race) के नाम से एक संस्था बड़ी लोकप्रिय है। उसका यही नारा है कि बड़े शहरों से दूर भागो, घरती के पास सौटो। बड़े शहरों में मानव खो जाता है। अमेरिका में युवा-वर्ग 'कम्पून' बनाकर शहरों और कल-कारखानों से दूर भाग रहे हैं। सोवै-सादे डंग से, वातावरण को दूषित किए बिना, जीने का मार्ग खोज रहे हैं।

एशिया-अफ्रीका पर यूरोप अमेरिका के आर्थिक लक्ष्य (economic objections) लाये गए। वहाँ का जीवनस्तर ही यहाँ आदर्श के रूप में रखा गया। लेकिन यहाँ वैसे और जतने प्राकृतिक स्रोत (resources) उपलब्ध नहीं है कि वंसा जीवनस्तर सब देशों में लाया जा सके। यह कोई गांधी के अपरिग्रह की बात नहीं है। यह प्राणिविज्ञान और वातावरण-विज्ञान के अनुसार अनिवार्य परिस्थिति है।

पहले बड़े पैमाने पर उत्पादन की आसुरी व्यवस्था खड़ी करना, फिर उत्पादित माल की खपत के लिए-बाजार खोजना, उसके लिए मनोवैज्ञानिक आधार खोजते हुए नये नये डंग से विज्ञापन की होड़ में उतरना—यह पूरी अविवेकपूर्ण प्रक्रिया वहाँ चलती रही है। अब वे लोग समझ रहे हैं कि हमारी मूल हुई है। १९६८ में फ्रांस में युवकों की ओर से जो महान आन्दोलन चला, उसका मुख्य नारा यही था कि हम मनुष्य को खोजना चाहते हैं। आज मनुष्य खो गया है। उन युवकों का कहना था कि पूँजीवाद से लेकर साम्यवाद तक मनुष्य कहीं स्वाधीन नहीं रहा है। उसका अभिक्रम (initiative) कहीं नहीं है।

यूरोप-अमेरिका का नमूना एशिया-अफ्रीका के लिए संगत नहीं है।

यह बात गांधी जी ने १९२० में रखी और आज १९७० में पश्चिम के वैज्ञानिकों की दृष्टि भी उसी तरफ जा रही है। और वे लोग समझ रहे हैं कि अपना नमूना एशिया अफ्रीका के सामने रख कर उन्होंने भारी मूल की है।

मुक्तिदाता गांधी की तीसरी भूमिका की बात करनी है जिसका सम्बन्ध उनके साथ बहुत व्यापक और गहरा रहा। केवल आर्थिक, राजनैतिक स्वाधीनता की बात उन्होंने नहीं की। मनुष्य को अपने आप से स्वाधीनता देने, अपने विचार, अपने चिन्तन से मनुष्य को मुक्त करने का उनकी विचार-धारा में प्रथम स्थान था। यह जो अपने भीतर की क्रांति का विचार उन्होंने रखा उसमें से सत्य, अहिंसा फलित होते हैं। वे कहते थे कि सत्य ही मेरी ब्यूह-रचना (strategy) है, सत्य ही मेरी सुरक्षा (defence) है, सत्य ही मेरा परमेश्वर है।

बाज जितने सरकार या गैरसरकारी संगठन क्रांति का दावा करते हैं, उनकी सत्यनिष्ठा की परीक्षा करे तो पता चलेगा कि जो उनकी वाणी में है, वह व्यवहार में नहीं है। सत्यनिष्ठा, साधनशुद्धि का कहीं पता नहीं है। एक सत्य को पकड़ा तो चित्तशुद्धि, अपने आप हो जाती है।

साधनशुद्धि पर गांधीजी का कितना जोर था, यह चौरीचौरा कांड के उदाहरण से प्रकट है। इतना बड़ा देशव्यापी आन्दोलन एक घटना से उन्हीं ने वापस ले लिया। और अपनी भूल स्वीकार की। जितना कठोर सत्याचरण वे करते थे, उस का अंशमान भी उनके साथी नहीं कर पाते थे। नेता को कितनी शुद्धि रखना जरूरी है, इसकी ओर वे पूर्ण सजग थे। नहीं तो शोषण की नई परंपरा शुरू हो जायेगी, यह बात वे खूब जानते थे।

इस प्रकार गांधी नए प्रेरक बल दे रहे थे। उनकी दृष्टि बहुत मनोवैज्ञानिक थी। वे शुष्क सुधारवादी (puritanist) नहीं थे। मनुष्य के चेतन मन में चाहे जितना सिद्धान्त भरने का, ठूसने का काम (indoctrination) किया जाए, किन्तु उस से भी अधिक गति अचेतन मन में पड़ी हुई है। चेतन मन में तो इस जीवन में प्राप्त शिक्षण, संस्कार रहते हैं। लेकिन अचेतन मन में पूरे समाज के सारे अनुभव पड़े रहते हैं। हमारी मानसिक विरासत बहुत विशाल है। शोषण, हिंसा, क्रोध हमारे अचेतन मन में पड़े हैं। हिंसा का आक्रमण हमारे जीवन-व्यवहार में दिनरात चलता है। वाणी से, मन से, आंख से कितनी हिंसा हम करते हैं। चेतन मन को हम कितना भी सिखाएं, लेकिन २३ घंटों का व्यवहार उतने से ही शुद्ध नहीं होता। अचेतन मन में संग्रह, शोषण सब कुछ है। इनको हटाना चाहिए। इनको कैसे हटाएंगे?

मनुष्य को बिना मारे उसकी आदतें बदलनी हैं। जिसे मार दिया उसका धारोर खो गया, लेकिन जो मारता है वह बर्षर (callous) हो जाता है। तवेदन-शीलता खो बँडता है। पीढ़ी की पीढ़ी को क्रूर, निर्दय बना कर ये लोग नया समाज बनाएंगे? यह प्रक्रिया उनकी मानवता को खा जायेगी उसका क्या?

अहिंसा का अर्थ है सर्जनशील प्रेम। कायर अपनी कायरता को छिपाने के लिए उसे नकारात्मक बना देता है। गांधी जी मातृहृदय संत थे। उनमें प्रेम, करुणा सर्वदा छलकती थी। इन मूल्यों के आधार पर मनुष्य व्यवहार करने लगे तो क्रांति के साथ-साथ संपूर्ण आंतरिक कायापलट हो जाता है। बाह्य परिवर्तन और भीतर मानवता का निर्माण—दोनों को एक साथ लाने को गांधी जी की कोशिश थी। इस में वे सफल हुए या नहीं, यह बात गौण है। आज नहीं हुए तो कल होंगे। मानव जाति को घृणा के स्थान पर प्रेम को लाना ही होगा।

“मनुष्य का स्वभाव बदलता नहीं है, द्वेष, क्रोध घृणा—यह मनुष्य का स्वभाव है” ऐसा कहने वाले यह नहीं जानते कि उसका स्वभाव अचल (static) नहीं है। मनुष्य की आदतों के ढाँचे नहीं बदल सकते, ऐसा कहने वाले यह नहीं जानते कि मनुष्य-स्वभाव अभी पूरे तौर से विकसित नहीं हुआ है।

इस चुनौती को गांधी ने देखा। जो आन्दोलन होंगे उन में सत्य का पालन होगा तभी कुछ निपजेगा, नहीं तो करोड़ों का खादी का व्यापार होने पर भी कुछ नहीं होगा। खादी के भीतर जो हृदय चाहिए वह नहीं रहेगा। गांधीजी के जीवन-दर्शन के अनुसार उद्योग-धंधे में स्वावलंबन की तैयारी रहनी चाहिये, एवं विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था और उद्योग-व्यवस्था की मार्फत शोषण को जड़ें हटा दी जानी चाहिए। यह क्रांति का गहन विचार था।

क्रांति के लिए सत्याग्रह और व्यक्ति के लिए सत्याचरण — इस प्रकार सत्यनिष्ठा का अधिष्ठान उन्होंने रखा। उसके समग्र दर्शन के लिए कई दिनों तक बोलना आवश्यक है।

उपसंहार

यूरोप में औद्योगिक क्रांति के बाद जो शोषण समाज में व्यक्त हुआ, उसके सन्दर्भ में मार्क्स ने कहा कि शोषण, गरीबी मानवकृत है। इसलिये श्रमिकों! दलितों! जाग उठो। एक हो जाओ। राष्ट्र की दीवारें मनुष्यकृत कल्पना की उपज हैं। उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में हों। यह एक आवाज, श्रद्धा का दर्शन मार्क्स ने दिया। वर्ण तथा वर्ग-विद्रोह का विचार उन्होंने किया।

मार्क्स ने कहा कि देहातों में जो दलित पीड़ित हैं, उन से क्रांति होगी। किसान क्रांति नहीं कर सकता यह भ्रम उन्होंने ने तोड़ा। रक्तरंजित क्रांति वहाँ भी हुई किन्तु नए ढंग के निर्माण का प्रयास हुआ।

इसके आगे की बात गांधी ने कही। उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में लाने का उनका अपना चिन्तन था। विनोबा ने उस आन्दोलन को उठाया, उस पर भाष्य व विस्तार किया। उत्पादन के साधन सरकार के हाथ में रहें यह आज

समाजवाद का सूत्र हो गया है। उत्पादन के साधन व्यक्ति से लेकर सरकार के हाथ में देना एक कदम तो आगे था, लेकिन सरकार के स्वामित्व से उत्पादन में और बंटवारे (distribution) में समाजवाद आता ही, ऐसी बात नहीं। जहाँ सरकार का प्रभुत्व हो, वहाँ से अन्याय और बोधण का अन्त हुआ—यह देखने में नहीं आया है।

अनुत्पादक, उत्पादक, उपभोगता,—इस त्रिमूर्ति में से अनुत्पादक के स्थान पर सरकार की ओर से व्यवस्थापक वर्ग आ जाता है। त्रिमूर्ति तो बनी ही रह जाती है। इस में भी नया केन्द्रीकरण हो जाता है।

युगोस्लाविया में पच्चीस हजार व्यक्तियों का कम्यून, उखोम—घन्चे का क्षेत्रीय स्वामित्व, प्रशासन का विकेन्द्रीकरण—इत्यादि का नये नमूने का ढांचा खड़ा हुआ। उस के संदर्भ में भूदान, ग्रामदान, के काम को देखें। ज्यों-ज्यों काम शुरू हुआ, आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही विनोबा को प्रज्ञा नक्सेन दर्शन करती गई। भूदान में से ग्रामदान, जिलादान का तन्त्र विकसित होता गया।

धरती का प्रभुत्व मनुष्य को है ही नहीं। स्वामित्व होमा तो मांव का होगा। यह विनोबा का दर्शन है। जहाँ व्यक्ति को हटा कर राज्य का स्वामित्व छाया गया, वहाँ विकेन्द्रीकरण संभव नहीं हुआ। विनोबा ने कहा कि भूमि के स्वामित्व का ग्रामीकरण होगा।

दुर्भाग्य से ग्राम—निर्माण के काम का स्वरूप निरंतर उठने से पहले ही विनोबा का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। किन्तु एक विचार और सस्कृति की समृद्धि गांधी—विनोबा—युग ने देखी। भूमिहीनता मिट सकती है यह विनोबा—युग ने सिखा दिया।

सरकारी स्वामित्व लाए बिना लोकतन्त्र का नया स्वरूप खड़ा करना, अभी बाकी है। क्या मार्क्स, माओ, गांधी के बाद क्रांति एक आयेगी? जैसे बाइबल, कुरान, गीता की दुहाई देते हुए मनमाना आचरण होता है, वैसे ही क्या इनके साथ होगा? इन तीनों के विचार में से आज के संदर्भ में क्या-क्या संगत है, उसका विश्लेषण कर के क्रांतिकारी आगे बढ़ेगा।

मानव के अन्तविरोध को हटाना होगा। मानव की मनोरचना की सीमा, यथादि समझ कर ही नया मानव—समाज बन सकता है। आत्मबोधन और लोकशिक्षण की आवश्यकता है। जिस में से मानव व्यक्तिगत और सामुदायिक रीति से उठेगा।

भारत में इस विषय पर सन्देह संवाद का यह पहला अवसर है जो वहाँ कुछ बहनों ने उपलब्ध करा दिया। विषय बहुत गहरा और विस्तृत है। उसकी रूपरेखा मात्र रखी जा सकी है।

द्वितीय खण्ड

: १ :

अंधेरे में त्रिविध प्रकाश : गांधी, विनोबा, जयप्रकाश

— अक्टूबर १९८० —

अध्यात्म जीवनविमुख नहीं है। अध्यात्म मानवविमुख नहीं है। अध्यात्म एक जीवनविज्ञान है। अध्यात्म के अधिष्ठान पर से सम्पूर्ण जीवन के सभी प्रश्नों पर चिन्तन हो सकता है, होना भी चाहिये। इस दृष्टि से अध्यात्म और जीवनसाधना की बात कहते हुए देश के विभिन्न राज्यों में हमारी यात्रा "लोक-सत्सङ्गयात्रा" चल रही है।

यात्रा की पृष्ठभूमि

आज देश की परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर है। मानो अमावस की रात का निबिड अन्धकार देश के सितियों पर उतर रहा हो। आज देश में मनुष्यता का, मानवीय जीवन-मूल्यों का और स्वयं मनुष्य का भी मूय कहीं दिखाई नहीं देता। समाज-व्यवस्था के सभी तन्त्र ठप हो रहे हैं। सभी क्षेत्रों में जीवन अस्तव्यस्त है। राष्ट्रभर में सर्वत्र असन्तोष की आहें सुनाई देती हैं।

कभी ऐसी विकट परिस्थिति में गांधीजी का भारत लौटना हुआ था। एक वर्ष तक उन्होंने देश का भ्रमण किया था। सम्पूर्ण जीवन के विषय में उनका मूलगामी चिन्तन चल रहा था। ईश्वर का स्वरूप, धर्म का अर्थ एवं भक्ति के रहस्य के विषय में उनके चित्त में मग्न चल रहा था। इंग्लैण्ड में रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी, योरोपियन तथा अमेरिकन जीवन-दर्शित का अध्ययन किया था। इन दोनों के फलस्वरूप उन्होंने एक जीवनदर्शन भारतीयों के सामने रखा। उस दर्शन में तीन प्रश्नों पर विशद प्रकाश डाला गया था।

१. भारत को स्वाधीनता कैसे मिले ?
२. राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के बाद देश का नवनिर्माण कैसे करें ?
३. देश का नवनिर्माण करते हुए उन श्रुतियों से एवं बुराईयों से कैसे बचें— जिन्हें वे पश्चिम में देख कर आये थे।

यह तीसरा सवाल ग्रामस्वराज्य और सम्पूर्ण क्रान्ति से सम्बन्ध रखता है। विज्ञान एवं यन्त्रविज्ञान की मदद से पश्चिमी देशों ने जो सर्वश्रेष्ठ विकास साधा था उस में जैसी अच्छाईयाँ थीं वैसे बुराईयाँ भी थीं। बापू की पत्नी नचर ने उन्हें पकड़ लिया था। जदाहरणार्थ—योरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद अर्थात्तन्त्र का और शहरी जीवन का एक ऐसा स्वरूप बन गया था जिस में परिवार समाज की इकाई के रूप में ठहर नहीं पा रहा था। गांधीजी समझ

गये थे कि ब्रिटिश साम्राज्य का अस्त होने के बाद भी भारत में विज्ञान और यन्त्रविज्ञान का दीर्घ अनिवार्य रूप से आयेगा, और उन के बढ़ते हुए कदमों को कोई रोक नहीं पायेगा। औद्योगिक क्रान्ति अवश्यम्भावी थी। किन्तु उसका स्वरूप क्या हो?—यही बुनियादी सवाल था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद भारत के मनुष्यबल और पशुबल की रक्षा हो सकती है या नहीं इस मौलिक मुद्दे पर बापू का चिन्तन चल रहा था। उत्पादक—परिश्रम जब पैसे से तोला जाता है तब उत्पादक के नाते व्यक्ति का गौरव नहीं रह जाता। उस परिश्रम को कौन खरीदता है—एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या सरकार?—यह प्रश्न गौण हो जाता है। योरोपियन देशों की एशिया में बसाहते होने के कारण, दलाल व्यापारी वर्ग एवं उद्योगपतियों के द्वारा होने वाले इस शोषण का स्वरूप और शोषण के तरीके योरोपियन उत्पादकों के ध्यान में नहीं आ रहे थे। बापू समझ गये थे कि राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद भी भारत दुनिया में अपनी बसाहते बनाता नहीं धूमेगा। इसलिये उत्पादक—परिश्रम की प्रतिष्ठा पर नया अर्थतन्त्र निर्माण करने का पुद्गपार्थ आवश्यक था। पैसे का मोह अर्थ-तन्त्र का आधार न बने और मनुष्य अपने रूप-गुण-बुद्धि बेचने-खरीदने के स्तर तक नीचे न उतरे—इस का आयोजन करना था। इस हेतु से १९३५-३६ में 'गाँव में वापिस चलो'—यह नारा बापू ने लगाया था।

विज्ञान और यन्त्रविज्ञान के आधार पर होने वाली औद्योगिक क्रान्ति में गाँव गाँव के रूप में बचे रहें—यह चिन्ता बापू के दिल में रहती थी? घरती और खेती से बहुसंख्य भारतीयों का प्रेम बना रहे, कृषि और कृषक को समृद्ध बनाने वाला, कुटुम्ब की इकाई को और मनुष्य की प्रतिष्ठा को कायम रखने वाला अर्थतन्त्र स्वतन्त्रभारत निर्माण करे—यह उन का सपना था। व्यक्ति के नाते मनुष्य में जो विभूतिमत्त्व है उसकी गरिमा संभालते हुए हम परस्पर सहयोग करें और सख्ययोगी बन कर जियें—ऐसा बापू ने सोचा था। यह दृष्टि कितनी क्रान्तिकारी थी इसे कोई भी सहृदय चिन्तनशील व्यक्ति समझ सकेगा। ग्रामस्वराज्य की गङ्गोत्री

इस प्रकार १९१५-१६ में ही बापू के जीवन में एवं उन की वाणी में ग्रामस्वराज्य की गङ्गोत्री समाई हुई थी। खादी एवं रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा ग्रामस्वराज्य एवं लोक स्वराज्य का अर्थ ही विषय हो रहा था। दृष्टि की तथा कार्यपद्धति की क्रान्तिकारिता के कारण लोगों को काम करने में उत्साह था और वे गौरव का अनुभव करते थे। १९२० से १९४७ के बीच खादी-ग्रामोद्योग का जो कार्य हुआ, रचनात्मक कार्य करने वाले संस्था-संगठनों का जो जाल देशभर में बुना गया, वह न हुआ होता तो आज जितनी सी सी

राष्ट्रीय एकता शेष है, बहू बची होती या नहीं यह कहना मुश्किल है। आज भी कोई व्यक्ति काश्मीर से उठकर केरल जाता है या श्री अन्दुल गफ्फार खाँ साहब पवनार जाते हैं, तो एक पारिवारिक आत्मीयता का वातावरण स्रष्टा होता है। इस राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के पीछे केवल भावनात्मक ऐश्वर्य नहीं है, अपितु जीवन की समग्रता पर आधारित क्रान्तिकारी कार्यपद्धति है।

लेकिन हम भूल गये

गाँधीजी के मन में जो भय था, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हुआ वही। योरोपियन औद्योगिक क्रान्ति के स्तोत्र गाये जाने लगे और हम गाँव के किसान को भूल गये। हम भूल गये कि कृषक और कृषि राष्ट्र के अर्थात्तन्त्र की रीढ़ बननी चाहिये। हम भूल गये कि भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ ग्रामाभि-मुख विज्ञान एवं ग्रामोपयोगी यन्त्रविज्ञान लाना पड़ेगा। १९४७ के बाद गाँधीजी की जीवनदृष्टि एवं कार्यपद्धति के आधार पर राष्ट्रीय संयोजन नहीं हो पाया।

भारत का अपना संविधान बना। कागज पर लोकतन्त्र का एक नक्शा उतर आया। लोकतन्त्रवादी एवं समाजवादी देशों के अर्थतन्त्रों को देख कर एक मिला-जुला आर्थिक संयोजन स्रष्टा होने लगा, और एक बाढ़ की तरह दुनिया के सभी देशों की अच्छी बुरी चीजें देखते ही देखते राष्ट्रीय संयोजन में घुस पड़ीं।

लोकशाही याने लोकस्वामित्व ! इसलिये रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा 'लोक' बनाने का अभियान चलाना आवश्यक था। लोकस्वामित्व का अर्थ समझाते हुए लोकतान्त्रिक मूल्यों को जनमानस में उतारना आवश्यक था। इसी हेतु से बापू ने अपने वसीयतनामे में लोकसेवकसंघ बनाने की बात लिखी थी। पर वह लोकनिर्माण का पुद्गलार्थ किसी से हो न पाया। राजनैतिक चुनाव लोकसिद्धि के अभियान बन नहीं पाये। चुनाव-प्रचार के अवसरों का दुष्प्रयोग हुआ और छोटे से छोटे गाँव तक पहुँच गई सत्ता की स्वर्घा और लालसा। मतवाला को कुसला कर, डरा कर या पैसे का लालच दिखा कर मतों की छीना छपटी करने का एक असभ्य-बीभत्स और अमानुष कार्यक्रम चल पड़ा। राजनैतिक स्वामित्व जिन में संविधान से निहित है वे करोड़ों नागरिक नंगे-भूखे न रहें-यह विवेक तक हमें न सूझा।

तब आये विनोबाजी

ऐसे अवसर पर प्रभुकृपा से भारतीय जनता के लिये उठ सके हो गये सन्त विनोबाजी। भूदानमूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान, वृष्णनिरपेक्ष जनशक्ति जगाने का पुद्गलार्थ करने में आया। भूदान-आन्दोलन के रूप में फिर एक बार ग्राम सन्त विनोबाजी ने लोक एवं लोकस्वामित्व निर्माण करने के लिये गरीबी अमीरी

मिटाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने शहरवासियों और बड़े पैमाने पर औद्योगिक क्रान्ति लाने के लिये लालाचिंत लोगों को स्पष्ट रूप से बतलाया कि लोकतन्त्र में लोक को नंगा-भूखा नहीं रखा जा सकता।

विनोबाजी गाँव-गाँव घूमने लगे। फिर एक बार खेती और खेतीघर की प्रतिष्ठा, परिवार की अश्रमता का महत्त्व एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के उद्घोष से देश का गमन निनाशित हुआ। भूदान-आन्दोलन की मार्फत एक साध्यात्मिक अधिष्ठान निर्माण करने वाला, आत्मबल जगाने वाला, मनुष्यबल और पशुबल के पूरक के रूप में यन्त्रविज्ञान का स्वीकार करने वाला एक क्रान्तिकारी जीवनदर्शन हमारे सामने आया है, यह हम समझ नहीं पाये। हम ने मान लिया कि भूमि माँगने और बाँटने का यह एक आर्थिक आन्दोलन है। माँगनेमात्र से लाखों एकड़ जमीन मिलना और प्रेम से उसका वितरित हो जाना हमें असम्भव सा लगता था। लेकिन वह हुआ और कार्यकर्त्तियों पर लक्ष्यांकु पूरे करने का नशा चढ़ गया। साधनशुद्धि पर से ध्यान हट गया। अद्भुत था वह भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन का पर्व। सारे राष्ट्र में एक मज्जलमय वातावरण व्याप्त हो रहा था। ग्रामस्वराज्य-दर्शन की यात्रा आगे चली। लेकिन ग्रामस्वराज्य को नींव मजबूत बनाने के लिये खेती को और ग्रामीण उद्योगधन्धों को समर्थ और सम्पन्न बनाने का कदम उठाया नहीं गया। निष्क्रिय, बेकार मनुष्यबल के अधिशास्य से अधिशक्त देश में ग्रामीण लोग अपने लिये रोजी-रोटी गाँव में ही पंजा कर सकें ऐसी आत्मनिर्भरता की दीक्षा उन्हें दी नहीं गई। और विनोबा-पर्व में भी सम्पूर्ण गाँधीजीवन दर्शन व्यवहृत नहीं हो सका। हम समझते रहे कि सरकार तो अपनी है, गाँधीजी को मानने वालों की है, तो कानून से भूमिव्यवस्था बदलने में आयेगी। देश की सरकार गाँधी-विनोबा को अधिप्रेत क्रान्तिकारी भूमि-व्यवस्था स्वच्छा से करेगी। इधर-उधर कुछ कानून बने भी, किन्तु आन्दोलन से जागृत सद्भावना का लाभ उठाकर भूमि व्यवस्था आमूलाग्र बदली नहीं गई।

गाय को कृषि के साथ जोड़ने की बात तो किसी ने सोची भी नहीं। जहाँ खेता को एक घन्घा मानकर उसका विवेकहीन यन्त्रीकरण होने लगा वहाँ गोपालन, गोसंवर्धन या गोवध-बन्दी की बात कौन करे? जहाँ बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन का संयोजन हो रहा था और देश-विदेशों में बाजार खोजना शुरू हो गया था। वहाँ गाँव को सशक्त एवं सम्पन्न बनाने की तरफ किस का ध्यान जाता? ग्रामामिमुख लोक-आन्दोलन और नगरामिमुख सरकारी संयोजन परस्पर विरोधी दिशा में चल रहे थे। और तो क्या? छाडी-ग्रामोद्योगों का संयोजन भी नगरामिमुख हो गया! उन की नजर भी विदेशों के बाजारों पर दीड़ने

लगी। पैसे का महत्त्व बढ़ा। मुनाफ़ा-खोरी और संग्रहखोरी प्रतिष्ठित मूल्य बने। नैतिक मूल्य क्षीण होने लगे। इस कारण से ग्राम-स्वराज्य-आन्दोलन जनक्रान्ति के रूप में परिणत नहीं होने पाया। उधर राजनीति में चुनावों के बहाने शोषण के रास्ते खुलते चले गये। जातिवाद-कौमवाद को प्रोत्साहन दे कर चुनाव जीतने के लिए उनका उपयोग होने लगा। भाषावाद, प्रान्तवाद को उकसाया गया। पैसे से मत खरीदने का या डण्डे से मत छीनने का परिणाम लोकतन्त्र के भविष्य पर क्या होगा यह किसी ने सोचा तक नहीं। परिस्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर बनती चली गई।

राजनीति के दिन लद् चुके

यह देखकर सन्त विनोबाजी ने कह दिया कि राजनीति के दिन लद् चुके हैं। उन्होंने आगे कहा कि लोकनीति का युग आ रहा है। अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का युग आ रहा है। मंसूर राज्य के येलवाल गाँव में सन् १९५७ में सभी पक्षों के प्रतिनिधि बुलाये गये। राजनीतिक पक्षों की त्रिभुजकारियों का भान उन्हें कराया गया। चुनावों को लोकशिक्षण-पर्व बनाने का उनका धर्म उन्हें समझाया गया। उपस्थित नेताओं की सम्मति से राजनैतिक पक्षों के लिये एक आचारसंहिता बनाई गई। किन्तु वह कागजों में ही बन्द रखी रही। इस से अधिक कोई ऋषि या सन्त क्या कर सकते थे? सत्ताधीश आप्रहो तथा आक्रामक बन सकते हैं, किन्तु ऋषि और सन्त मूचनात्मक शिक्षणपद्धति से काम लेते हैं। स्वयं आचरण कर के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे ज्ञापक होते हैं कारक नहीं।

सन्त विनोबाजी की इस बात को श्रीजयप्रकाशजी ने उठा लिया। लोकनीति के दर्शन को विकसित करते हुए वे पक्षातीत लोकशाही और भागीदार की लोकशाही के रूप में उसे अभिव्यक्त करने लगे। श्री जयप्रकाशजी का विभूतिमत्त्व सन्त विनोबाजी के विभूतिमत्त्व से भिन्न रहा। अपनी युवावस्था में वे अमेरिका में रहे। फ्रेंच क्रान्ति एवं अमेरिकन क्रान्ति का इतिहास वे ध्यान-पूर्वक पढ़ गये थे। १९१७ में रूस में जो बोल्शेविक क्रान्ति हुई, उसका उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। इस प्रकार उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। पदार्थविज्ञान या भौतिकवाद में से अच्छाई की प्रेरणा निष्पन्न नहीं होती यह वे भलीभाँति समझ चुके थे। उस प्रेरणा के स्रोत की खोज में लगे हुए जयप्रकाशजी मूदान-आन्दोलन में शामिल हुए थे। क्रान्तिकारी व्यक्ति होने के कारण जिसका मिथ्यात्व वे जान जाते थे उससे उनका चित्त सहसा हट जाता था। यश-अपयश की तराजू में उन्होंने अपने जीवन की सार्थकता-निर्गन्धकता का कभी नापा नहीं। ऐसे क्रान्तिकारों जयप्रकाश जी ने लोकनीति-दर्शन को व्यवहृत करना शुरू किया।

जयप्रकाशजी की सूझ-बूझ

श्री जयप्रकाशजी पं. जवाहरलाल के साथ रहे थे। उन्हें राजनैतिक परिस्थिति की बहुत गहरी सूझ-बूझ थी। उन्होंने पक्षातीत लोकशाही लाने के लिये पक्षातीत चुनाव की बात देश के सामने रखी। ग्रामपंचायतों से लेकर नगरपालिकाओं तक के चुनाव पक्षातीत पद्धति से हों इसके लिये उन्होंने मत-दाताशिक्षण का अभियान शुरू किया। तात्पर्य यह कि १९७४-७५ में जयप्रकाश जी एकदम राजनीति में कूद पड़े हों ऐसा नहीं। सन् १९५७-७३ तक जयप्रकाशजी बसा कर रहे थे इसका अध्ययन किये बिना उनके अन्तिम आन्दोलन का रहस्य समझ में नहीं आयेगा। अध्ययन के बिना महापुरुषों के विषय में पूर्वग्रह बना लेने से उसके साथ तो अन्धाय होता ही है, अपितु उनके साथ-साथ देश के साथ भी अन्धाय होता है। जयप्रकाशजी को यह चिन्ता हो रही थी कि मूदान आन्दोलन में यदि लोकजागरण नहीं होगा और राजनैतिक चेतना का विकास नहीं होगा तो लोकशाही कैसे टिक सकेगी? यदि मतदाता को मालूम ही नहीं है कि मतदान का अर्थ क्या है? प्रतिनिधि किसको कहते हैं? प्रतिनिधिक लोकशाही का आशय क्या है? तो लोकस्वामित्व एक अर्थहीन नारा मात्र रह जाता है। यदि एक पक्ष की टिकिट पर कोई व्यक्ति चुनाव जीतता है, और जीतने के बाद दूसरे पक्ष में शामिल हो जाता है, तो उसे वापिस जाकर दूसरी बार चुनाव लड़ना चाहिये। मतदाता का अधिकार है कि उसे वापिस बुला सके। यह सब यदि मतदाता जानता ही न हो तो प्रतिनिधि लोगों के प्रति जिम्मेवार बनेंगे ही नहीं। तात्पर्य यह कि राजनीति में मूल्यों का उत्तरोत्तर पतन होता ही चला गया। आर्थिक क्षेत्र में मूदान-ग्रामदान आन्दोलन के कारण कम से कम एक वैचारिक अंकुश पैदा हुआ था लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में वह भी नहीं हो पाया। तब १९७३ में अपनी जीर्ण-शीर्ण काया लेकर श्री जयप्रकाशजी निकल पड़े। १९५७ से क्रमशः विकसित होने वाले लोकनैतिक दर्शन को गाँव-गाँव तक पहुँचाने के लिये वह चिर-परिवाजक निकल पड़ा।

सम्पूर्ण क्रान्ति

सम्पूर्ण क्रान्ति यानी केवल सत्ता का हस्तान्तर नहीं। सम्पूर्ण क्रान्ति यानी विरोधी पक्षों की एक लिचड़ी पकाना नहीं। विभिन्न पक्षों की गठरी बांधकर जनता के कंधों पर लादना—यह भी सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ नहीं है। मतदाता-शिक्षण के लिये और लोकशाही को बचाने के लिये सब लोग अपने-अपने क्षेत्र में पुरुषार्थ करें—यही सम्पूर्ण क्रान्ति का आशय है। तो, जयप्रकाशजी ने विद्यार्थियों और शिक्षकों से कहा कि तुम निकल पड़ो। जिनके कोई निहित

स्वार्थ नहीं हैं, उन सबका आह्वान किया गया। किन्तु मैं उस आन्दोलन में शामिल नहीं थी, इसलिये मैं उसका पूरा व्योरा जानती नहीं। फिर भी संपूर्ण क्रान्ति-आन्दोलन के पीछे एक अत्यन्त गहरा करुणासम्पन्न मानवनिष्ठ जीवन दर्शन था पट्ट तथ्य स्पष्ट करना चाहती हूँ।

सम्पूर्ण क्रान्ति का समग्र दर्शन शब्दाङ्कित करने के लिये जयप्रकाशजी के पास समय नहीं रहा। ग्रामस्वकारों की जहाँ ग्रामस्वराज्य में होनी चाहिये, प्रतिकारात्मक आन्दोलनों के सूत्र गांधी-विनोबा के जीवनदर्शन समझने वालों के हाथ में होने चाहिये—इसकी खबरदारी रखने लायक निश्चिन्तता उनको मिल नहीं पाई। इसलिये सम्पूर्ण-क्रान्ति-आन्दोलन अल्पजीवि रहा यह इस देश का दुर्भाग्य है।

हमारी जिम्मेवारी

इसलिये अब हम सब पर जिम्मेवारी है कि ग्रामस्वराज्य से सम्पूर्ण क्रान्ति तक के क्रमिक विकास को हम समझ लें। रचनात्मक कार्यक्रम एवं ग्रामस्वराज्य आन्दोलन हमारे काम का जड़ हैं। किन्तु जहाँ अन्याय के प्रतिकार की आवश्यकता उपस्थित होगी, जहाँ लोकतन्त्र का अस्तित्व ही खतरे में आयेगा, वहाँ हम कायर बनकर संस्था या संगठनों की दीवारों में बन्द होकर नहीं जीयेंगे। शान्तिमय लोकतान्त्रिक पद्धति से परिस्थिति का प्रतिकार करने निकल पड़ेंगे। रचनात्मक कार्य हमारा नियमरूप होगा और अत्याय-अत्याचार का प्रतिकार नैमित्तिक कार्य रहेगा। और इन दोनों का अधिष्ठान होगा आत्मश्रद्धा और आत्मबल में। नींव में होगा ग्रामस्वराज्य और उसके आधार पर होगा लोक-शिक्षण। इस प्रकार हम सम्पूर्ण क्रान्ति तक पहुँच पायेंगे। न तो ग्रामस्वराज्य ग्रामदान की धारा क्षणिकत हुई है, और न यह सम्पूर्णक्रान्ति की धारा क्षणिकत होने वाली है।

अभिनव चुनौती

अध्यात्म के अधिष्ठान पर ग्रामस्वराज्य की नींव डाल कर सम्पूर्ण क्रान्ति का दर्शन लोकतान्त्रिक पद्धति से विशद करने की चुनौती हमारे सामने है। यदि हम व्यक्ति-प्रामाण्य और शब्द-प्रामाण्य में फँस जायेंगे तो चित्त में आत्म-प्रामाण्य कभी जागृत नहीं होगा। जो काम आत्मप्रत्यय के बिना किया जाता है, वह निस्तेज और निष्प्राण होता है। जो एक विज्ञानपूत तथा प्रयोगपूत दर्शन उपलब्ध है, उसे सस्ता नहीं बनाना है। हमसे जितना बन पड़ेगा उतना हमें करना है। समस्याएँ हर समय बनती हैं और जीवन पर छाई रहती हैं। हम चले जायेंगे तब भी समस्याएँ तो रहने ही वाली हैं किन्तु हम आये तब समस्याओं का जो रूप था, वही रूप हमारे जाने के समय तक न रहे—यही देखना हमारा धर्म है।

नया मनुष्य, नया गाँव, नया समाज

१. नया मानव बनिये !

हम मनुष्य देह में हैं। किन्तु अपना व्यवहार मनुष्यता का नहीं होता है। मनुष्य तनु धारण करना बड़ा दायित्व है, गौरवभरा दायित्व है। इसलिये—

१. जो कुछ करे वह समझ-पूर्वक करे।
२. अपने में समझ न हो तो प्राप्त करे।
३. समझ पूर्वक कर्म करते समय किसी प्रकार का भय न रखे।
४. अपनी समझ को जीना मानव का धर्म है।

५. धर्म है यानी उसका अधिकार है और दायित्व भी है।

६. शरीर को अन्न, वस्त्र और रहने के लिये घर-द्वार जुटाना यह भी मनुष्य का धर्म है। क्योंकि मनुष्य पशु नहीं है। वह जंगल में नहीं, समाज में रहता है।

७. शरीर में शक्ति, बुद्धि में ज्ञान और हृदय में अभय प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है। जो मरण से भय रखता है वह देह की आसक्ति में फँस जाता है।

८. जो देह की आसक्ति में फँसा, वह सुविधा-सुरक्षापूर्ण जीवन जीना चाहता है।

९. सुविधा-सुरक्षा भरा (आरामतलब) जीवन जुटाने की कोशिश में फिर मनुष्य सत्य, न्याय और धर्म की बलि चढ़ाने को भी उद्यत हो जाता है।

१०. झूठ के कीचड़ में घँसा हुआ मन हमेशा भयभीत रहेगा।

११. कायर मनुष्य आक्रामक या उद्वेग वने बिना नहीं रहता। आक्रामक न बन पाये तो दीन हो जाता है।

१२. दीनता-हीनता ओढ़ लेने वाले लोग आक्रामक लोगों के तुल्य ही समाजघातक और भयङ्कर होते हैं।

१३. वे प्रत्येक जिम्मेवारी में से छटक जाते हैं। ऐसे पलायनवादी अपनी तथाकथित अशक्ति का आँचल ओढ़कर जिन्दगी ढोते रहते हैं।

इसलिये मैं कहती हूँ कि अभय बनिये ! भयभूक्ति द्वारा अपना नया जन्म होने दीजिये। जीवन जीने के लिये है जीवन जीने में मनुष्यता है। आज इस देश में मनुष्यता का अभाव है। मित्रों ! आप नये मानव बनिये !

२. नया गाँव

१. नया गाँव निर्माण करने का सङ्कल्प करें। केवल नौकरी करना ही कोई धन कमाने का एकमात्र मार्ग नहीं है।

२. अपने देश में विशाल, कसदार, रसमयी-स्नेहमयी धरती है।

३. अपने देश में असंख्य सरितायें हैं। अभी थोड़े-बहुत जङ्गल भी बचे हुए हैं। इनमें से कामघन्धा पैदा करने का पुष्पार्थ करना चाहिये।

४. गाँव में खेती के आन-पास कुटीर उद्योग तथा ग्रामोद्योग विकसित करने चाहिये।

५. प्रत्येक गाँव में पीने का पानी भरपूर उपलब्ध हो इसके उपाय युवकों को खोजने चाहिये।

६. प्रत्येक गाँव में शौचालय-स्नानघर, कपड़े धोने का सुघड़ स्थान हो इतनी व्यवस्था करनी ही चाहिये।

७. गाँवों का स्वच्छ-सुन्दर-सुघड़ बनाने के लिये हमें जुट जाना चाहिए।

८. गाँव से भागकर शहरों में नौकरी के लिये जिस-तिस की सुशामद करने की बजाय गाँव का कायापलट करने का व्रत युवक लेंगे तो गाँवों का शोषण अपने आप रूक जायेगा।

९. जिस गाँव में उत्तम खेती होती होगी, कच्चे माल का पक्का माल वहाँ के वहाँ बनाने के लिये ग्रामोद्योगों का विकास होता होगा, गाय-बैलों का सहकार होगा, वृक्षों का अनुग्रह होगा, स्वच्छता और आरोग्य होगा, गोबर-गैस द्वारा बिजली, ईंधन, उत्तम खाद की सुविधा होगी, वह गाँव राष्ट्र की सशक्त और समृद्ध इकाई बनेगा।

१०. आर्थिक एवं व्यवस्थितता की समृद्धि के साथ-साथ और एक समृद्धि पानी होगी—गाँव गाँव में व्यायामशालायें, अखाड़े, योगशाला बनानी होंगी। जिस गाँव में सुदृढ़ बलवान और निर्भय स्त्री-पुरुष रहते होंगे वहाँ बाहर से आकर अशान्ति कौन फैला सकेगा? नात-त्रात या घर्म के नाम पर कटुता-जावेग की आग कौन लगा सकेगा? डरा-घमकाकर चुनावों में इच्छाविरुद्ध मत कौन लूट सकेगा?

११. अपना गाँव पूरा एक परिवार है, गाँव की आबरू अपनी आबरू है, गाँव का विकास यानी अपने ही बेटों-पौत्रों का विकास है, गाँव में शान्ति रही इसमें अपने भी कुटुम्ब की सुरक्षा है—यह सत्य हमें पहचानना चाहिए।

३. शिक्षित युवकों के प्रति

१. जिन युवकों के पास प्रभुक्रुपा से आज भी खेती की जमीन रही हो उनसे हृदय की गहराई से प्रार्थना करती हूँ कि अपने मित्रों को इकट्ठा करके नये गाँव और नया समाज रचने का व्रत धारण करो।

२. शिक्षण में प्राप्त किया हुआ ज्ञान-विज्ञान यन्त्रविज्ञान लेकर गाँव लौटो। तालुका-स्तर के ग्राम-नवनिर्माण-केन्द्र खड़े करो। स्वाध्याय-मंडल बनाओ। इससे तुम न केवल रचनात्मक बल्कि सर्जनारमक कार्य के भी प्रणेता बनोगे।

३. विद्युत्-शक्ति, अणुशक्ति, सौरशक्ति इन सब का समुचित विनियोग करने के लिए चर्चा-मंडल और प्रयोगशालायें खोलो।

४. सच्चे अर्थ में ग्राम-स्वराज्य को अमल में लाने की घड़ी आई है। ग्राम-स्वराज्य बिना संपूर्ण क्रान्ति अशक्य है।

५. आर्थिक स्वाधीनता के बिना राजकीय स्वराज्य अशक्य है। पराधीनता के कदम दुःख के मूल हैं। स्वाधीनता के पुद्गल में मानवता का गौरव समाया हुआ है।

४. मनुष्य और सृष्टि : समाज

१. जो सृष्टि मनुष्य ने नहीं बनाई, अनादिकाल से अस्तित्व में है, उसके साथ हमें रहना है—यह सत्य हम समझ लें, और घरती, आकाश, वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, समुद्र इत्यादि सभी के साथ आदरमरा और स्नेहमय व्यवहार करें।

२. पशु-पक्षी अपने शत्रु नहीं हैं। वे अपने गुलाम भी नहीं हैं, वे तो अपने साथी-सहयोगी हैं। उन्हें अपने जीवन में शामिल करने की सुविधाएँ और कलाएँ विकसानी चाहियें।

३. मनुष्यबल तथा पशुबल जहाँ कम पड़े, वहाँ यन्त्रों का उपयोग करके अपने जीवन को समृद्ध बनाना है। यन्त्र मनुष्य और पशु की अपेक्षा कभी भी श्रेष्ठ नहीं हैं, यन्त्र प्रगति का एकमात्र लक्षण नहीं हैं—यह ध्यान में रहे।

४. यन्त्र मनुष्य के 'साथी' नहीं बन सकते। मनुष्य को सहजीवन की भूख होती है। उस भूख का समाधान यन्त्र नहीं कर सकते। यन्त्रों के साथ अधिक समय रहने से मनुष्य संवेदनशीलता खो बैठता है, कठोर, रूखा-सूखा बन जाता है।

५. जिस समाज में स्नेह की ऊर्मा, स्नेह करने की शक्ति खो बैठे हुए व्यक्त हों, वहाँ शस्त्रपरायणता बढ़ेगी ही। क्योंकि स्नेह और सहयोग में

जो सुरक्षा है वह यन्त्रों की अधीनता के कारण नष्ट हो जाती है। व्यक्तियों को परस्पर का सहारा, साथीपन न मिले तो व्यक्ति अकेला-एकाकी-बेसहारा और खिन्न बन जाता है।

६. तब राज्यसंस्था से ही सुविधायें, सुरक्षा प्राप्त करने की ओर व्यक्तियों का झुकाव हो जाता है। वे पुलिस की, सैनिकों की, सरकार की, तारणहार मानने लगते हैं। नौकरी माँगना सरकार से! आरोग्य के लिये, रोग के उपचार के लिये व्यवस्था सरकार करे! शान्ति और सामाजिक सुरक्षा के लिये भी सरकार पर निर्भर होना—ऐसी दयनीय दशा में जनता पड़ जाती है।

७. यन्त्रविज्ञान के दुरुपयोग से 'उत्पादक' समाप्त हो गया है। केवल 'उपभोक्ता' रह गया है। उत्पादक-परिश्रम के प्रति प्रेम और आदर का लोप हो जाने से उत्पादन करने की सूझ और क्षमता नष्ट हो गई है। जीवन की सब ज़रूरतों को पूरा करने के लिये जनता सरकारी या व्यक्तिगत उद्योग-धन्धे चलाने वालों की आश्रित बन बैठी है। केन्द्रित अधंशक्ति की गुलाम बनी हुई जनता किस मुँह से व्यक्तिगत स्वाधीनता की, लोकशक्ति या लोकतन्त्र की बात कर सकेगी?

८. सब प्रकार से शासन पर अवलम्बित रहने वाली जनता जाने-अनजाने अपनी राजकीय स्वाधीनता अपने हाथों नष्ट करती चली जाती है।

९. जिस समाज में व्यक्तियों के समूह मानसिक, बौद्धिक दृष्टि से स्वाधीन नहीं हैं, आर्थिक जीवन में स्वाश्रयी नहीं हैं परस्पर स्नेह-सम्बन्ध से गूँथे हुए नहीं हैं, उस समाज में लोकतन्त्र की बात करना केवल बाणी-बिलास ही होगा। वहाँ समाजवाद, साम्यवाद या सर्वोदय की बातें करना कल्पना जगत् का का बिहार ही कहलायेगा।

सब बातों का सार यह है कि हमें एक नया समाज रचना होगा। खुद नया मनुष्य बनें, गाँवों में नवजीवन निमाँण करें, तब हम नया समाज बना पायेंगे। तभी मार्क्स, लेनिन, माओ और गांधी-विनोबा-जयप्रकाश के सपने साकार होंगे।

५. नेतामुक्ति

पिछली कुछ शताब्दियों से इस देश में मानव-रत्न उपजते रहे हैं। जीवन के क्षेत्र में महामानव काम करते आये हैं। जिन्हें भारतवर्ष अपने कुटुम्ब से तो क्या प्राणों से भी प्यारा था ऐसे देशभक्त इस धरती में फले हैं। जिन्हें मनुष्यकाया में छिपे छपस्थ परमात्मा की सेवा करने में व्यक्तिगत मुक्ति से भी

अधिक कृतार्थता प्रतीत होती थी ऐसे मानवभक्त यहाँ प्रगटे हैं। जिन्हें इस देश में बसने वाले विभिन्न धर्मों, विभिन्न-भाषी लोगों में एक ही भारतीय और मानवीय परिवार दिखाई देता था और उनकी सेवा में अपने पीरुष का पुरस्कार प्रतीत होता था—ऐसे मनुष्यता के वाशिक यहाँ जी गये हैं। जब तक भरत-स्रष्ट में रहनेवाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को स्वमान-पूर्वक अन्न-वस्त्र-प्राश्रय मिलने का अवसर न उपलब्ध हो तब तक सौ-सौ बार देह धारण करके सेवा करने की समन्ना वाले अलमस्त जीवन-साधक इस देश को उज्ज्वल कर गये हैं। राजनीति और राजकीय सत्ता को व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भोगना पाप है—ऐसी पुनीत श्रद्धा रखने और जीने वाले संयम-वीर समाज-जीवन को सुसोभित कर गये हैं।

इसी के परिणामस्वरूप भारतीय जनता आज भी देशनेताओं की, मानव-सेवकों की, संयमवीरों की, अलमस्त फकीरों की प्रतीक्षा करती है। समग्र राष्ट्र को एकता के तन्तु में पिरो देने वाले किसी महामानव की आशा है लोगों को।

यह प्रतीक्षा करना तब सार्थक हो यदि हम स्वधर्माचरण करते हों, और प्रभु की सत्ता का बोझ हम में रहता हो।

जब मनुष्य श्रद्धा का बल लेकर उसके सहारे जीने लगता है, तब उसे बाह्य सहायता की अपेक्षा रहती नहीं। आन्तर-अवलम्बन मिलता है, इसलिये व्यक्ति आत्मनिर्भर बन जाता है। आरभावलम्बी व्यक्ति नेता की प्रतीक्षा में समय नहीं गँवाता। स्वधर्माचरणी साधुचरित नागरिकों से समृद्ध समाज का ओज-तेज निरासा ही होता है।

सच्ची बात तो यह है कि ऐसे समाज में नेतृत्व विकेन्द्रित हो जाता है। फिर महापुरुष या महामानव प्रकट हो तो भी उनकी कक्षा और जनसाधारण की कक्षा में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता। जीवनकक्षा यानी जीवन जीने की नैतिक कक्षा, सहाचार की कक्षा। वह समान रहती है।

मनुष्य को बचायें !

हम मनुष्य को बचायें जनतन्त्र स्वयं बच जायेगा ।

हम दीप जलायें अंधेरा स्वयं मिट जायेगा ।

हम में मानव जन्मे, पले, मानवता सब ओर स्वयं महकेगी ।

'वादों'—'वादकों' को भाते' वमें' जरा,

नारों—प्रदर्शनों की बीछारे' बन्द रहें जरा,

व्यक्ति—भाहात्म्य और नेतापूजा का ज्वर उतरे ।

निरीक्षण रूपी आकाशदीप हमारे भीतरी विश्व को प्रकाशित करे ।

अपने ही अन्तर्गत के तथ्यों से—

भ्रान्ति, कृष्ठा, विरोध, भय से—हमारा सामना हो ।

अपनी ही विवेक—बुद्धि के सम्मुख हम

अपने प्रच्छन्न हेतु अनावृत्त कर सकें ।

अपने दैनिक जीवन के विचारों, शब्दों, आचरणों को

स्वयं हम ईमान की आँसू से देख सकें ।

इस आत्मनिरीक्षण के दर्पण में ही हम जनतन्त्र के शत्रु को देख पायेंगे ।

हम पहचान सकेंगे कि कैसे हम ही—

- (१) दैनिक सम्बन्धों में जनतन्त्र के मूल्यों की हत्या करते हैं ।
मले ही बौद्धिक रूप से स्वयं को, जनतन्त्र के प्रेमी मानते हैं ।
- (२) कैसे—मानस भ्रष्टाचार भय और दम्भ के माध्यम से हम से समाज-विरोधी आचरण कराता है ।
- (३) कैसे निरन्तर दूसरों से अपनी तुलना और सफलता—विफलता के तथाकथित मापों में स्वयं का मूल्यांकन ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, संघर्ष, विस्फोट हिंसा को उकसाता है ।
- (४) कैसे—मनुष्यता, मानवीयता तितर—वितर हो जाती है ।
और हम प्रमादी श्राम्य, कर्कश, असम्य व्यवहार कर बैठते हैं—
केवल धन, सत्ता, प्रतिष्ठा या कामवासना की लालसा—पूर्ति के लिए !
बस इसी से जनतन्त्र की जड़ें विधात हो गई हैं ।

व्यग्र, फीधी और हिसाप्रवण हृदय कभी भी शोभन, सम्म, जनतान्त्रिक एवं शान्तिमय समाज का निर्माण नहीं कर सकेगा। लालसाग्रस्त, आक्रमणग्रस्त, आक्रामक, भूखे भेड़िये जैसा मानस कभी भी निरामय एवं स्वाधीन समाज बना नहीं पायेगा।

वीथी धाताब्दियां में क्या हम देख नहीं चुके हैं कि सभी सुप्रतिष्ठ सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक ढाँचे व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों के अमानवीय व्यवहारों के बोझ से ढहते गये हैं; मूल्य निःशेष हो गये हैं !

आदर्श बौद्धिक, काल्पनिक, धार्मिक असंख्य है। उनके पालन की योजनायें—अनगित हैं। प्रणालियों-पद्धतियों के बहुत से ढेर लगे हैं। किन्तु कहाँ है वह समग्र मनुष्य ! जो इनको हाथ में ले, इन पर चले, इन के अनुसार आचरण करता हुआ जाए !

मनुष्य की समग्रता ही तो मानवोचित संवेदन और प्रतिसाद जगा सकेगी। आज वह समग्रता ही छिन्न-भिन्न है। आन्तरिक छिन्न-विच्छिन्नता के ही विषयों में मनुष्य लिपटा पड़ा है।

मनुष्य की मानसिक दरिद्रता से ही हमारा सामाजिक जीवन दीन-हीन बना हुआ है। कोई बौद्धिक आश्वासन या दान-प्रयास इस भीतरी भिखारी की दरिद्रता नहीं मिटा सकते। यह भिखारी प्रत्येक सम्बन्ध या सम्पर्क को भोल-तोल की ही तराजू में रखता है, और जीवन बेचारा व्यापार का माल बन कर रह जाता है।

आज मनुष्य स्वयं अपनी बिक्री के लिये प्रस्तुत है और जनतन्त्र की अनिवार्य अपेक्षा है कि किसी भी मूल्य पर 'जन' 'मानव' बिके नहीं। जनतन्त्र की अपेक्षा है कि नागरिक अपने मत और स्वाधीनता को किसी भी वस्तु के बदले में बेचे नहीं।

किन्तु, वह 'जन' वह 'मानव' कहाँ है? कहाँ है वह नागरिक ! जिसे सत्य और स्वाधीनता से प्रेम हो। अधिक न सही, पर कम से कम जिसे अपने अधिकारों और दायित्वों से प्रेम हो; उतना, जितना कि उसे अपने प्राणों से है।

जो कोई भी देश की सेवा करने के इच्छुक है, उन्हें सब से पहले अपने ही अन्तर्जगत् की सेवा करनी ही होगी। अपने भीतर दबी-घुंटी, बची-खुची मानवता के प्राण बचाने होंगे। अपने-आप का समग्र बनाने का हर प्रयत्न करना होगा।

हाँ, सच ही, मनुष्य को—जो अपने सत्य से जीवित भगवान् ही है, उसे बचाना होगा।

: ४ :

आओ, मनुष्य बनो !

सामान्यजन से विनय

कानून से हमें स्वाधीनता मिली । कहते हैं कि कानून से लोकतन्त्र भी मिला है । किन्तु जीवन की धरती पर सर्वत्र सब प्रकार से अपने लिये तो पराधीनता ही पराधीनता है ।

घन की धूलियों से न्याय तोला जाता है ।

घन की धूलियों से मत खरीदे जाते हैं ।

घन की धूलियाँ एवं सत्ता की कुसियाँ देखकर

लोक-प्रतिनिधि अपना नीलाम बोलते हैं ।

एक तरफ गुण्डातन्त्र के अनियंत्रित अत्याचार और हिंसा है ।

दूसरी तरफ पुलिस से संरक्षण मिलेगा या नहीं—यह अनिश्चित है ।

राजनैतिक पक्षों को सत्ता का हस्तान्तर करने—कराने के सिवा पुरुषार्थ का अन्य विषय या क्षेत्र नहीं रह गया है ।

असहाय दीन बनकर कब तक यह देखते रहोगे ?

किस से मार्गदर्शन या संरक्षण की आशा रख रहे हैं ?

आओ हम आरुस छोड़ें; अकर्मण्यता छोड़ें ।

भूखे को अन्न मिले, नंगे को वस्त्र मिले, बेकार को काम मिले—ये नारे लगायें । उत्पादक को उत्पादन के साधन मिलें, उपभोक्ता को दैनिक जीवन के आवश्यक समान मिलें—यह नारा लगायें ।

सामान्यजनों के स्वयंस्फूर्त नागरिक-संगठन ही एकमेव तरणोपाय हैं ।

यदि इस देश में मनुष्यों का तथा मानवता का एकदम ही अकाल न पड़ा हो तो उठें और सज्जित बनें । उत्पादक एवं उपभोक्ता एक साथ हो जाय । शिक्षक एवं छात्रगण एक साथ हो जाय । महिलायें एवं बन्धुवर्ग एक साथ हो जाय । गांवों और नगरों में सामान्य-जन-संगठन बनें । जागृति में निर्भयता की कुंजी है । निर्भय नागरिक ही लोकसत्ता को धारण कर सकता है ।

महिलाओं से निवेदन

भारत की आधी जनसंख्या महिलाओं की है । शिक्षित बहनों की संख्या गत बत्तीस वर्षों में बहुत बढ़ी है । सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में महिलायें सत्ता-स्थानों पर आयी हैं । पंचायतों में, नगरपालिका में, विधान सभाओं और लोकसभा में उन की संख्या बढ़ती जा रही है ।

फिर भी आये दिन महिलाओं पर होने वाले अत्याचार-बलात्कारों की चिनौनी कहानियां पढ़नी पड़ती हैं ।

अबला सबला कब बनेगी ?

दहेज-विरोधक, अन्याय-निवारक, अत्याचार-प्रतिकारक समितियां मुहल्ले-मुहल्ले में कब बनेंगी ?

कन्याओं-प्रीडाओं-वृद्धाओं के ध्यायामवर्ग, स्वाध्यायवर्ग, प्रभातफेरियां तथा सत्संगसत्र कब चलेंगे ?

आप किस की प्रतीक्षा कर रही हैं ?

संरक्षक ही जब भक्षक बन रहे हैं, तो आशा किस की रख रही हैं ?

उठें, और आत्मबल के सहारे डग भरें । हर गांव में, हर नगर में—महिला-आत्मरक्षा-समिति बनायें ।

आप अपनी जान और शान बचावेंगी, तभी भारत की गरिमा बच पायेगी ।

युवकों को आवाहन

समस्यायें विकट हैं अन्धकार घना है, यह मान लीवा ।

पर इस मानने से तो काम नहीं चलेगा ।

युग-- युग में ऐसे ही अन्धकार में से लोग निकलते आये हैं ।

मुझे विश्वास है कि भारत का युवावर्ग देश को इस तम से निकालेगा ।

छोटी-छोटी बातों में उलझ जाने की घड़ी नहीं है ।

नगण्य—तुच्छ बातों में लड़-जगड़ कर शक्ति खोने का समय नहीं है ।

कहीं से भी कोई मार्गदर्शन मिलने वाला नहीं है—यह सत्य समझ लें । इसलिये—

(१) तन से स्वस्थ बनें; मन से सन्तुलित रहें ।

अस्वस्थ तन एवं असन्तुलित मन कैसे विज्ञान का धिनियांग करेगा ।

(२) अपने गांव या नगर में कोई विधायक रचनात्मक कार्य हाथ में लें । पुरुषार्थ के प्रयोजन से बने संगठन ही ठहर सकते हैं ।

(३) अपने गांव या नगर में होने वाले सामाजिक अन्यायों के प्रतिकार के लिये अन्याय-निवारक प्रतिहारी समितियां बनायें ।

(४) युवक-युवतियां मिलकर नगर में निर्भयता का वातावरण बनायें ।

(५) प्रभातफेरी, ध्यायाम-वर्ग, स्वाध्याय एवं सत्सङ्ग-संघीतियों का आयोजन करें ।

(६) सम्पूर्ण क्रान्ति के समग्र दर्शन की रचना करें ।

(७) शान्तिमय लोकतान्त्रिक परिवर्तन की प्रक्रिया का आविष्कार करें ।

